राष्ट्रीयता और भाषा के प्रश्न पर एक अहम बहस के चुनिन्दा दस्तावेज़

(सम्पादकीय प्रस्तावना)

16 सितम्बर 2019 से हमारे और पंजाबी पत्रिका 'ललकार' के साथियों के बीच राष्ट्रीयता और भाषा के प्रश्न पर एक अहम बहस जारी है, हालाँकि इस पूरी बहस में दूसरे पक्ष से हमें कोई जवाब अभी तक नहीं मिला है। लेकिन सकारात्मक तौर पर 'ललकार' की ओर से राष्ट्रीयता और भाषा के प्रश्न पर और विशेष तौर पर पंजाबी भाषा, पंजाबी राष्ट्रीयता, हरियाणा और हिमाचल प्रदेश के कतिपय अंगों के पंजाब का हिस्सा होने, हरियाणवी बोलियों, हिन्दी भाषा के इतिहास और चरित्र पर जो अवस्थितियाँ रखी जाती रही हैं, उन्हें हम भयंकर अस्मितावादी विचलन से ग्रस्त मानते हैं। यह अस्मितावादी विचलन एक अन्य बेहद अहम और आज देश में प्रमुख स्थान रखने वाले मुद्दे राष्ट्रीय नागरिकता रजिस्टर पर भी प्रकट हुआ है, जिसमें कि 'ललकार' (और उसके सहयोगी अख़बार 'मुक्तिमार्ग') ने असम में नागरिकता रजिस्टर को घुमाफिराकर सही ठहराया है, या कम-से-कम असम में एनआरसी की माँग को वहाँ की राष्ट्रीयता के भारतीय राज्य द्वारा राष्ट्रीय दमन के कारण और प्रवासियों के आने के चलते वहाँ के संसाधनों पर अत्यधिक दबाव पड़ने का नतीजा बताया है। इस रूप में असम में एनआरसी की माँग को राष्ट्रीय भावनाओं और अपनी राष्ट्रीय संस्कृति, अस्मिता और भाषा की सुरक्षा की भावना की अभिव्यक्ति बताया है। यह पूरी अवस्थिति समूचे राष्ट्रीय प्रश्न पर एक मार्क्सवादी-लेनिनवादी क्रान्तिकारी अवस्थिति से मीलों दूर है और गम्भीर राष्ट्रवादी और भाषाई अस्मितावादी विचलन का शिकार है।

हमने इन अवस्थितियों की 16 सितम्बर से ही 'मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान' के फ़ेसपुक पेज पर आलोचनाएँ पेश की हैं। इन आलोचनाओं को आम तौर पर विस्तृत निबन्धों और संक्षिप्त टिप्पणियों के रूप में रखा गया था। इन सारे निबन्धों और टिप्पणियों को यहाँ पेश करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि एक तो इनमें बहस की प्रक्रिया में कई बिन्दुओं को बार-बार दुहराया गया है और दूसरा इन सभी को एक अंक में समेट पाना सम्भव भी नहीं है। जो सुधी पाठक इन सभी निबन्धों व टिप्पणियों को पढ़ना चाहते हैं, वे पत्रिका के फ़ेसबुक पेज पर जाकर 3 फ़रवरी को डाली गयी पोस्ट को देख सकते हैं, जिसमें कि सभी निबन्धों व टिप्पणियों का लिंक दिया गया है।

हम इस अंक में इन निबन्धों के साथ साथी अभिनव का एक छोटा निबन्ध भी दे रहे हैं, जो कि इस प्रश्न पर मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवस्थिति को ससन्दर्भ पेश करता है।

निबन्धों के इस संकलन को हम इसलिए इस अंक में दे रहे हैं क्योंकि यह भाषाई और राष्ट्रीय अस्मितावादी विचलन को अनावृत्त करता है और इस प्रश्न पर सन्दर्भों, उदाहरणों व प्रमाणों के साथ क्रान्तिकारी मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवस्थिति को भी पेश करता है। इसलिए मार्क्सवाद-लेनिनवाद में रुचि रखने वाले पाठकों के लिए इसका विशेष महत्व है, विशेष तौर पर उन पाठकों के लिए जो राष्ट्रीयता और भाषा के प्रश्न में दिलचस्पी रखते हैं।

ये निबन्ध भाषा और राष्ट्रीयता का प्रश्न भारत में किस रूप में अस्तित्वमान है और उसके समाधान का समाजवादी कार्यक्रम के मातहत क्या रास्ता होगा, इस प्रश्न के उत्तर की कोई व्यवस्थित और व्यापक प्रस्तुति नहीं हैं। भारत में राष्ट्रीयता और भाषा के प्रश्न पर हम आने वाले अंकों में कई ऐसे निबन्ध पेश करने जा रहे हैं, जो सकारात्मक तौर पर इस प्रश्न के समाजवादी समाधान का रास्ता प्रस्तावित करते हैं। यहाँ हमने क्रान्तिकारी आन्दोलन के भीतर मौजूद एक विशेष धारा की आलोचना मात्र रखी है, जो कि राष्ट्रीय व भाषाई अस्मितावाद के विचलन का शिकार है। इस प्रक्रिया में टुकड़े-टुकड़े में कई नुक़्तों पर बातें रखी गयी हैं, जो कि भारत में राष्ट्रीयता और भाषा के प्रश्न के विषय में हैं, लेकिन भारत में राष्ट्रीयता और भाषा के प्रश्न पर आने वाले अंकों में हम सकारात्मक तौर पर अपनी अवस्थिति को लेखों और निबन्धों के रूप में प्रकाशित करेंगे।

हम उम्मीद करते हैं कि निबन्धों और लेखों का यह संकलन सुधी पाठकजनों को राजनीतिक रूप से शिक्षाप्रद और महत्वपूर्ण लगेगा। इन निबन्धों पर आपकी प्रतिक्रियाओं का स्वागत है। जिन निबन्धों अथवा टिप्पणियों में लेखक का नाम नहीं है, उन्हें सम्पादक मण्डल द्वारा लिखा गया है।

– सम्पादक

राष्ट्रीय दमन क्या होता है? भाषा के प्रश्न का इससे क्या रिश्ता है? मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवस्थिति की एक संक्षिप्त प्रस्तुति

● अभिनव

यह प्रश्न आज कुछ लोगों को बुरी तरह से भ्रमित कर रहा है। कुछ को लगता है कि यदि किसी राज्य के बहुसंख्यक भाषाई समुदाय की जनता की भाषा का दमन होता है तो वह अपने आप में राष्ट्रीय दमन और राष्ट्रीय आन्दोलन का मसला होता है। उन्हें यह भी लगता है कि असम और पूर्वोत्तर के राज्यों में एन.आर.सी. उचित है क्योंकि यह वहाँ की जनता की राष्ट्रीय दमन के विरुद्ध "राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति" है और इस रूप में सकारात्मक है। तमाम क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट साथियों को यह बात सुनने में अजीब लग सकती है लेकिन यह सच है! वाक़ई वामपन्थी दायरे में अस्मितावाद के शिकार कुछ लोग हैं, जो ऐसी बात कह रहे हैं। राष्ट्रीय प्रश्न पर ऐसे लोग बुरी तरह से दिग्भ्रमित हैं। इसलिए इस प्रश्न को समझना बेहद ज़रूरी है कि दमित राष्ट्रीयता किसे कहते हैं और राष्ट्रीय दमन का मतलब क्या होता है। इस प्रश्न पर **लेनिन, स्तालिन** और तुर्की के महान माओवादी चिन्तक **इब्राहिम केपकाया** ने शानदार काम किया है।

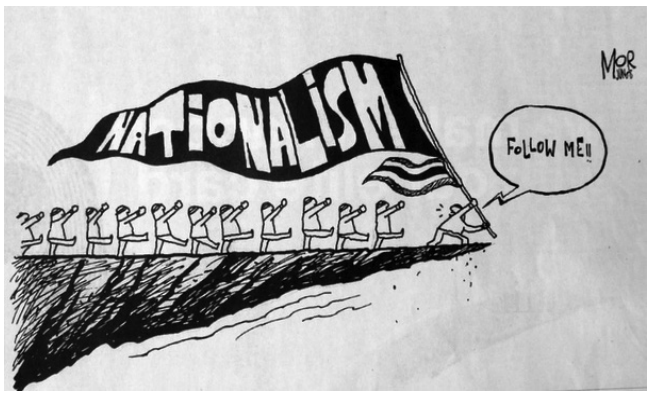

लेनिन और स्तालिन ने राष्ट्रीय प्रश्न पर मार्क्सवादी-लेनिनवादी समझ की बुनियाद रखी और उसके सार्वभौमिक सिद्धान्त पेश किये। वहीं केपकाया ने इन आम सिद्धान्तों को विकसित किया और तुर्की में कुर्द जनता के राष्ट्रीय दमन और इस विषय में वहाँ के संशोधनवादियों की आलोचना करते हुए राष्ट्रीय दमन के प्रश्न पर क्लासिकीय मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवस्थिति को शानदार तरीक़े से पेश किया। आज पूरी दुनिया में मार्क्सवादी-लेनिनवादी राष्ट्रीय प्रश्न पर केपकाया के चिन्तन को इस पूरे प्रश्न पर मार्क्सवाद-लेनिनवाद की उन्नति के तौर पर स्वीकार करते हैं। आइए देखते हैं कि केपकाया इसके बारे में क्या कहते हैं।

"शफाक संशोधनवादियों के अनुसार, ये केवल कुर्दिश जनता है जो कि राष्ट्रीय दमन का शिकार है। यह राष्ट्रीय दमन का अर्थ ही नहीं समझने के समान है। राष्ट्रीय दमन वह दमन होता है जिसमें कि दमनकारी राष्ट्र के शासक वर्ग समूचे दमित, निर्भर और अल्पसंख्यक राष्ट्र को ही दमन का शिकार बनाते हैं। तुर्की में, राष्ट्रीय दमन प्रभुत्वशाली तुर्क राष्ट्र के शासक वर्ग द्वारा केवल कुर्द जनता का ही नहीं बल्कि समूचे कुर्द राष्ट्र का दमन होता है, और केवल कुर्द राष्ट्र का ही नहीं, बल्कि सभी अल्पसंख्यक राष्ट्रों का दमन होता है।"

केपकाया आगे लिखते हैं :

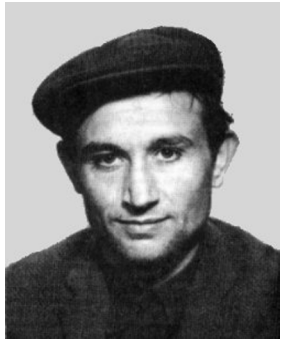

"केवल कुर्द जनता नहीं बल्कि समूचा कुर्द राष्ट्र इस राष्ट्रीय दमन के मातहत होता है, केवल बड़े ज़मीन्दारों और बेहद थोड़े बड़े पूँजीपतियों को छोड़कर। कुर्द मज़दूर, किसान, शहरी निम्न पूँजीपति वर्ग और साथ ही छोटे ज़मीन्दारों, सभी को राष्ट्रीय दमन का सामना करना पड़ता है।

"दरअसल, मूलभूत रूप में राष्ट्रीय दमन का असली निशाना अधीनस्थ और निर्भर राष्ट्र का पूँजीपति वर्ग होता है क्योंकि शासक राष्ट्रों के पूँजीपति और ज़मीन्दार देश की समूची सम्पदा और बाज़ार को बिना किसी चुनौती के हड़प लेना चाहते हैं। वे राज्य सत्ता को स्थापित करने का विशेषाधिकार अपने हाथों में रखना चाहते हैं। अन्य भाषाओं पर प्रतिबन्ध लगाकर, वे 'भाषाओं की एकता' लाना चाहते हैं, क्योंकि वह बाज़ार के लिए ज़रूरी होता है। दमित राष्ट्रीयता का पूँजीपति वर्ग और ज़मीन्दार

वर्ग उनके इस मक़सद में एक महत्वपूर्ण बाधा होते हैं, क्योंकि वे भी अपने बाज़ार पर अपना प्रभुत्व चाहते हैं और उसे नियंत्रित करना चाहते हैं और भौतिक सम्पदा और जनता के श्रम का ख़ुद शोषण करना चाहते हैं।

"ये वे शक्तिशाली आर्थिक कारक हैं जो दो राष्ट्रों के पूँजीपति और भूस्वामी वर्ग को एक दूसरे के विरुद्ध खड़ा कर देते हैं; यही कारण है कि शासक राष्ट्र के पूँजीपति व भूस्वामी वर्ग बिना रुके राष्ट्रीय दमन के अपने प्रयासों को जारी रखते हैं; इसी से यह सच्चाई सामने आती है कि राष्ट्रीय दमन का निशाना दमित राष्ट्र के पूँजीपति वर्ग और भूस्वामी वर्ग होते हैं।" (इब्राहिम केपकाया, 2014, 'सेलेक्टेड वर्क्स', निसान पब्लिशिंग, पृ. 106-7)

स्तालिन के इन शब्दों पर भी ग़ौर करें :

"दमित राष्ट्र का पूँजीपति वर्ग, जो कि हर अर्थ में दबाया गया है, वह नैसर्गिक तौर पर, आन्दोलन में कूद पड़ता है।"

स्तालिन ने यह भी बतालाया है कि जिन राष्ट्रों को भाषाई दमन का सामना करना पड़ता है, लेकिन वहाँ पर सामन्ती या औपनिवेशिक दमन अनुपस्थित है, वहाँ राष्ट्रीय आन्दोलन विकसित ही नहीं हो पाता है, और वह साइन बोर्डों की भाषा को लेकर छोटे-मोटे झगड़ों में तब्दील होकर रह जाता है, क्योंकि राष्ट्रीय दमन का सारतत्व किसान प्रश्न और/या औपनिवेशिकीकरण के प्रश्न से जुड़ा हुआ है। दोनों जुड़े हुए भी हैं क्योंकि साम्राज्यवादी देश अपने उपनिवेशों में कभी भी पूँजीवादी विकास को स्वस्थ तौर पर नहीं होने देता और वहाँ के दलाल पूँजीपति वर्ग और सामन्ती भूस्वामी वर्ग के साथ मिलकर वहाँ की अर्थव्यवस्था को अर्द्धसामन्ती बनाए रखता है क्योंकि यदि उपनिवेशों में स्वतंत्र पूँजीवादी विकास हुआ तो फिर वहाँ का पूँजीपति वर्ग बाज़ार पर अपने वर्चस्व के लिए राष्ट्रीय मुक्ति का झण्डा बुलन्द करता है, और जिस हद तक किसान व सर्वहारा वर्ग का राष्ट्रीय दमन होता है उस हद तक ये मेहनतकश वर्ग भी राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल होते हैं। स्तालिन के निम्न उद्धरण पर ग़ौर करें :

"सटीक तौर पर कहें तो संघर्ष पूरे के पूरे राष्ट्रों के बीच नहीं शुरू होता है, बल्कि प्रभुत्वशील देशों के शासक वर्ग और उन देशों के शासक वर्गों के बीच शुरू होता है जो कि पृष्ठभूमि में धकेल दिये गये हैं। यह संघर्ष आम तौर पर दमित राष्ट्रों के निम्न-पूँजीपति वर्ग और प्रभुत्वशाली राष्ट्रों के बड़े पूँजीपति वर्ग (चेक व जर्मन), या दमित राष्ट्रों के ग्रामीण पूँजीपति वर्ग और प्रभुत्वशाली राष्ट्रों के भूस्वामी वर्ग (पोलैण्ड में यूक्रेनी) के बीच होता है, या फिर दमित राष्ट्रों के समूचे 'राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग' और प्रभुत्वशाली राष्ट्रों के शासक कुलीन सामन्त वर्ग के बीच होता है (रूस में पोलैण्ड, लिथुआनिया और यूक्रेन)।"

आगे देखें, स्तालिन क्या कहते हैं :

"हर रूप में दबाया गया दमित राष्ट्र का पूँजीपति वर्ग नैसर्गिक तौर पर आन्दोलन में कूद पड़ता है। यह अपने 'देशी लोगों' से अपीलें करता है और 'पितृभूमि' के बारे में शोर मचाना शुरू कर देता है; यह दावा करते हुए कि उसका लक्ष्य ही पूरे राष्ट्र का लक्ष्य है। यह अपने 'देशवासियों' के बीच से...'पितृभूमि' के हितों में एक सेना खड़ी करता है। 'लोग' भी हमेशा उसकी अपीलों का जवाब न दें ऐसा नहीं होता; वे भी उसके झण्डे तले एकत्र होते हैं : ऊपर से दमन उन्हें भी प्रभावित करता है और उनके असन्तोष को भी बढ़ावा देता है।

"इस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू होता है।

"राष्ट्रीय आन्दोलन की शक्ति इस बात से निर्धारित होती है कि राष्ट्र के व्यापक हिस्से, यानी कि मज़दूर और किसान वर्ग, किस हद तक इसमें हिस्सेदारी करते हैं।

"सर्वहारा वर्ग पूँजीवादी राष्ट्रवाद के झण्डे तले जाता है या नहीं यह वर्ग अन्तरविरोधों के विकास की मंज़िल पर, सर्वहारा वर्ग की वर्ग चेतना और उसके संगठन की मंज़िल पर निर्भर करता है। वर्ग-सचेत सर्वहारा का अपना परखा हुआ झण्डा है, और उसे पूँजीपति वर्ग के झण्डे तले जाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

"जहाँ तक किसानों का प्रश्न है, तो राष्ट्रीय आन्दोलन में उनकी भागीदारी प्राथमिकतः दमनों के चरित्र पर निर्भर करती है। अगर दमन 'ज़मीन' को प्रभावित करते हैं, जैसा कि आयरलैण्ड में था, तो किसानों के व्यापक जनसमुदाय तत्काल राष्ट्रीय आन्दोलन के झण्डे तले गोलबन्द हो जाते हैं।"

आगे देखें :

"लेकिन, दूसरी ओर, मिसाल के तौर पर, जॉर्जिया में अगर कोई रूसी-विरोधी राष्ट्रवाद नहीं है तो इसका प्रमुख कारण यह है कि वहाँ कोई रूसी ज़मीन्दार वर्ग या रूसी बड़ा पूँजीपति वर्ग नहीं है जो कि जनसमुदायों के बीच इस राष्ट्रवाद को हवा दे सके। जॉर्जिया में, एक आर्मेनियाई-विरोधी राष्ट्रवाद है; लेकिन ऐसा इसलिए है क्योंकि अभी भी वहाँ एक आर्मेनियाई बड़ा पूँजीपति वर्ग है, जो छोटे और अभी भी सशक्त नहीं बने जॉर्जियाई पूँजीपति वर्ग पर अपनी वरीयता स्थापित करके उसे आर्मेनियाई-विरोधी राष्ट्रवाद की ओर धकेलता है।

"इन कारकों के आधार पर, राष्ट्रीय आन्दोलन या तो

एक जन चरित्र अपनाता है और तेज़ी से बढ़ता है (जैसा कि आयरलैण्ड और गैलीशिया में हुआ) या फिर तुच्छ टकरावों में बदल जाता है, जो कि जल्द ही साइनबोर्डों को लेकर लड़ाइयों और 'झगड़ों' में बदल जाता है (जैसा कि बोहेमिया के छोटे शहरों में हुआ)" [कहना होगा कि ऐसा भारत में भी कुछ राज्यों में हुआ है, जैसा कि पंजाब में एक भूतपूर्व गैंगस्टर द्वारा साइनबोर्डों से हिन्दी मिटाने की मुहिम में देखा जा सकता है, हालाँकि कुछ राष्ट्रीय व भाषाई अस्मितावाद के शिकार "मार्क्सवादी" भी इसे "राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति" मानते हैं! – लेखक] (स्तालिन, 1998, 'मार्क्सवाद और राष्ट्रीय प्रश्न', संकलित रचनाएँ, खण्ड-2, अंग्रेज़ी संस्करण, न्यू होराइज़न बुक्स, कोलकाता, पृ. 259-261)

इसी वजह से स्तालिन ने यह भी लिखा था, **"यह ग़लती उसे (सेमिच को) एक और ग़लती की ओर ले जाती है, यानी इस बात से उसका इन्कार करना कि राष्ट्रीय प्रश्न अपने सार में वस्तुतः किसान प्रश्न ही है।"** (स्तालिन, 1954, 'यूगोस्लाविया में राष्ट्रीय प्रश्न के विषय में', फ़ॉरेन लैंगुएजेज़ प्रेस, मॉस्को)

जो लोग समूचे राष्ट्रीय प्रश्न को ही शैक्षणिक और सांस्कृतिक मसलों पर सीमित कर देते हैं, स्तालिन ने उनकी भी कठोर आलोचना की है। यदि राष्ट्रीय दमन है, तो उसका समाधान राष्ट्रीय मुक्ति और राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का कार्यक्रम ही कर सकता है। यदि कोई किसी राष्ट्रीयता को राष्ट्रीय दमन का शिकार मानता है, तो उसे उस राष्ट्रीयता के लिए राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का ही सिद्धान्त देना होगा, न कि महज़ अपनी भाषा के स्कूलों का, सांस्कृतिक-भाषाई स्वायत्तता का। स्तालिन इसी सोच की आलोचना करते हुए लिखते हैं :

"बावर और रेनर जैसे ऑस्ट्रियाई सामाजिक-जनवादियों का मन्दबुद्धिपन इस तथ्य से ज़ाहिर होता है कि उन्हें राष्ट्रीय प्रश्न और सत्ता के प्रश्न के बीच का अविभाज्य सम्बन्ध नहीं समझ आता है, और इस तथ्य से कि वे राष्ट्रीय प्रश्न को राजनीति से अलग करने का प्रयास करते हैं और इसे सांस्कृतिक और शैक्षणिक प्रश्नों तक सीमित करने का प्रयास करते हैं और इस प्रक्रिया में वे साम्राज्यवाद और साम्राज्यवाद द्वारा ग़ुलाम बनाये गये उपनिवेशों जैसी 'क्षुद्र बातों' को भूल जाते हैं।" स्तालिन ('अक्टूबर क्रान्ति और राष्ट्रीय प्रश्न')

मैंने आपके सामने केपकाया और स्तालिन के ये लम्बे उद्धरण सिर्फ़ इसलिए पेश किये क्योंकि राष्ट्रीयता के प्रश्न और राष्ट्रीय दमन के अर्थ के विषय में ये मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवस्थिति को इतने सटीक और सारगर्भित तरीक़े से पेश करते हैं, कि ज़्यादा कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन फिर भी कुछ बातें कहूँगा।

यदि आपके सामने कोई किसी भी राष्ट्रीयता के दमन के प्रश्न को रखता है, तो **सर्वप्रथम यह सवाल उठाइए कि क्या (उस राष्ट्रीयता के बड़े दलाल पूँजीपति वर्ग और सामन्ती ज़मीन्दार वर्ग के अतिरिक्त) वह समूचा राष्ट्र किसी अन्य राष्ट्र के शासक वर्गों द्वारा दमन का शिकार है?** इसे इस रूप में भी समझ सकते हैं कि भारत और 'तीसरी दुनिया' के कई देशों की जनता को साम्राज्यवादी देशों का इज़ारेदार पूँजीपति वर्ग लूटता है, लेकिन इसकी वजह से ही 'तीसरी दुनिया' के ये देश दमित राष्ट्रीयता या नवउपनिवेश या अर्द्धउपनिवेश नहीं बन जाते, क्योंकि इन देशों का पूँजीपति वर्ग साम्राज्यवादी देशों के इज़ारेदार पूँजीपति वर्ग द्वारा दमित-शोषित नहीं है, बल्कि उसका 'जूनियर पार्टनर' है। यदि महज़ आम जनता के शोषण-उत्पीड़न के आधार पर राष्ट्रीय दमन माना जायेगा, तो फिर तथाकथित 'तीसरी दुनिया' के कई देश राष्ट्रीय दमन के शिकार उपनिवेश या अर्द्धउपनिवेश माने जायेंगे, जो कि यथार्थ के बिल्कुल विपरीत होगा। इसलिए कोई राष्ट्र दमित है या नहीं इसका सबसे प्रमुख आधार यह है कि दमनकारी राष्ट्र के शासक वर्गों द्वारा उस समूचे राष्ट्र का दमन होता है, जिसमें कि पूँजीपति वर्ग भी शामिल है। केवल दलाल वर्ग इस दमन के दायरे से बाहर होते हैं, यानी कि बड़ा व्यापारिक व नौकरशाह दलाल पूँजीपति वर्ग और सामन्ती भूस्वामी वर्ग। यदि ऐसा नहीं है तो वहाँ भाषाई दमन की समस्या हो सकती है (जिसके अपने ऐतिहासिक कारण हो सकते हैं), या कोई अन्य समस्या हो सकती है, लेकिन वह राष्ट्रीय दमन नहीं कहा जा सकता है। राष्ट्रीय दमन होने पर भाषा का भी दमन होना लाज़िमी है। लेकिन भाषा का दमन हर मामले में अपने आप में राष्ट्रीय दमन नहीं होता है। भारत में मार्क्सवादी-लेनिनवादी आन्दोलन के भीतर कुछ राष्ट्रीय अस्मितावादी हैं, जो पंजाबी भाषा के साथ अन्याय के आधार पर पंजाबी राष्ट्रीयता को भी एक दमित राष्ट्रीयता क़रार देते हैं। वे अगर वाक़ई में अपने आपको मार्क्सवदी-लेनिनवादी मानते हैं तो उन्हें भी यही सवाल पूछना चाहिए कि **क्या पंजाब में कोई दलाल पूँजीपति वर्ग और सामन्ती भूस्वामी वर्ग है, जिसे छोड़कर समूचा पंजाबी राष्ट्र (पूँजीपति वर्ग समेत) किसी अन्य राष्ट्र के शासक वर्ग द्वारा दमन का शिकार है? यानी, क्या पंजाब का पूँजीपति वर्ग राष्ट्रीय दमन का शिकार है? यदि हाँ, तो उसकी सही-सही पहचान की जानी चाहिए। इसके अलावा यह भी बताया जाना चाहिए कि दमनकारी राष्ट्र कौन है जिसके शासक वर्ग इस राष्ट्रीय दमन को अंजाम दे रहे हैं? इसके बिना, यदि कोई राष्ट्रीय दमन की बात**

करते हुए पंजाबी राष्ट्र को दमित राष्ट्रीयता क़रार देता है, तो फिर वह पूँजीवादी राष्ट्रवादी अवस्थिति से ही सम्भव है, सर्वहारा अवस्थिति से क़तई नहीं। ऐसे लोगों को स्तालिन व इब्राहिम केपकाया का राष्ट्रीय प्रश्न पर जो कार्य है, उसे अवश्य पढ़ लेना चाहिए।

दूसरी बात यह कहूँगा कि जिस आधार पर ऐसे लोग राष्ट्रीय दमन का दावा कर रहे हैं, उसके अनुसार, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक, तेलंगाना, तमिलनाडु, आदि सभी ग़ैर-हिन्दीभाषी प्रदेश राष्ट्रीय दमन का शिकार हैं। ऐसे में, इन सभी राष्ट्रों के समक्ष जो राजनीतिक चरण है, वह है राष्ट्रीय मुक्ति का, यानी राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का और भारत में क्रान्ति का या तो कोई अर्थ नहीं होगा या यह अर्थ होगा कि भारत की क्रान्ति भी जनवादी होगी और इन सभी राष्ट्रीयताओं की राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का योग होगी। यह कार्यदिशा बहुत तेज़ी से पार्टी के संघीय मॉडल और बुण्डवाद की तरफ़ जाती है। ऐसी ही बात भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन में एक समय में के. वेणु नामक एक व्यक्ति ने की थी। उनका राजनीतिक निर्वाण क्या हुआ, यह आप स्वयं ही सन्धान कर लें, हम कभी आगे उस पर विस्तार से लिखेंगे और मौजूदा अस्मितावादी रुझान से उसकी कुछ समानताओं की भी चर्चा करेंगे। ताज्जुब नहीं होगा कि आज जो लोग राष्ट्रीय व भाषाई अस्मितावादी विचलन के शिकार हैं, कल उनका हश्र भी वही हो। यह भी याद रखना चाहिए कि चोरी-छिपे कार्यदिशा को धीरे-धीरे बदलते जाने से कभी कोई विच्युति या विचलन दूर नहीं होता है, बल्कि नयी विच्युतियों और विचलनों को ही जन्म देता है, जो कालान्तर में क्रान्तिकारी मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवस्थिति से प्रस्थान में भी तब्दील हो जाती है।

यह भी याद रखना ज़रूरी है, जैसा कि लेनिन ने कहा भी था, कि किसी बहुराष्ट्रीय देश में आम तौर पर सबसे बड़े भाषाई समुदाय की भाषा आर्थिक और ऐतिहासिक कारणों से सम्पर्क भाषा बन जाती है, बशर्ते कि राज्यसत्ता उसे थोपने का प्रयास न करे। जहाँ एक ओर हमें कहीं भी और किसी भी नागरिक पर किसी भी राज्य में कोई भी भाषा थोपने का विरोध करना चाहिए, वहीं हमें उस नैसर्गिक ऐतिहासिक प्रक्रिया का भी प्रतिक्रियावादी तरीक़े से विरोध नहीं करना चाहिए, जहाँ बिना किसी दबाव के कोई भाषा या चन्द भाषाएँ सम्पर्क भाषा के रूप में उभरें। लेनिन ने स्वयं बताया था कि किसी भी बहुराष्ट्रीय देश में आम तौर पर बहुसंख्यक भाषाई समुदाय की भाषा का पूँजीवादी विकास के साथ ही एक सम्पर्क भाषा के तौर पर उभरना एक नैसर्गिक ऐतिहासिक प्रक्रिया होती है। यदि राज्यसत्ता द्वारा इसे ज़बरन सम्पर्क भाषा बनाया जाये तो क़तई इसका विरोध किया जाना चाहिए। दूसरे, इस प्रकार थोपे जाने से इस भाषा का ही नुक़सान होता है, जैसा कि लेनिन ने रूसी भाषा के सन्दर्भ में दिखलाया भी। लेनिन ने दिखलाया कि यदि रूसी भाषा को थोपा नहीं जाता तो यह नैसर्गिक तौर पर समूचे रूसी बहुराष्ट्रीय राज्य में एक सम्पर्क भाषा के तौर पर उभरती और यदि स्विट्ज़रलैण्ड के समान ही वहाँ एक जनवादी राजनीतिक व्यवस्था होती तो यह अन्य भाषाओं के दमन या उनके पिछड़ने का कारण भी नहीं बनता। यदि ऐसे किसी राज्य में बिना किसी दबाव के कोई भाषा सम्पर्क भाषा के तौर पर उभरती है, तो इस स्वाभाविक ऐतिहासिक प्रक्रिया का विरोध करना ग़लत और प्रतिक्रियावादी है। यह कम्युनिस्टों का काम नहीं है। भारत में हमें हर प्रान्त में उस प्रान्त के बहुसंख्यक भाषाई समुदाय की भाषा में पढ़ने-लिखने व सरकारी कार्रवाई के उस समुदाय के अधिकार के लिए भी संघर्ष करना चाहिए और साथ ही उस प्रान्त में रहने वाले (प्रवासियों समेत) सभी लोगों पर बहुसंख्यक भाषाई समुदाय की भाषा को थोपे जाने का भी क़तई विरोध करना चाहिए। लेकिन हमारे भाषाई अस्मितावाद के शिकार साथी महाराष्ट्र नवनिर्माण सेना के राज ठाकरे के पदचिह्नों पर चलते हुए यह भी कह रहे हैं कि प्रवासियों को उस राज्य के बहुसंख्यक भाषाई समुदाय की भाषा सिखायी जानी चाहिए, इस भाषा को सभी के लिए शिक्षा का बाध्यताकारी माध्यम बना दिया जाना चाहिए और इसे राज्य में रोज़गार की पूर्वशर्त बना दिया जाना चाहिए। ये सारी माँगे सर्वहारा-विरोधी और टटपुँजिया राष्ट्रवादी माँगें हैं। हमें हर प्रान्त में हरेक नागरिक के लिए उसकी मातृभाषा या उसकी पसन्द की भाषा में पढ़ने-लिखने व सरकारी कार्रवाई के हक़ के लिए संघर्ष करना चाहिए। कोई अगर इसे अव्यावहारिक मानता है, तो एक बार देख लेते हैं कि लेनिन इस विषय में क्या कहते हैं :

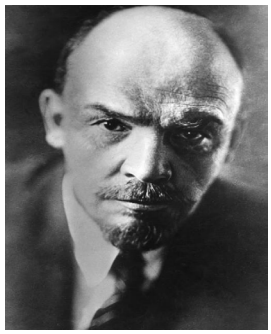

"लेकिन हमसे पूछा जा सकता है कि सेण्ट पीटर्सबर्ग में 48,076 स्कूली बच्चों में एक जॉर्जियन बच्चे के हितों को समान अधिकारों के आधार पर सुरक्षित किया जाना क्या सम्भव है? और हमें जवाब देना चाहिए कि जॉर्जियाई 'राष्ट्रीय संस्कृति' के आधार पर सेण्ट पीटर्सबर्ग में एक विशेष जॉर्जियाई स्कूल की स्थापना करना असम्भव है, और यह कि ऐसी योजनाओं की वकालत करना जनता के बीच ज़हरीले

विचारों के बीज बोने के समान है।

"लेकिन हम किसी नुक़सानदेह चीज़ का बचाव नहीं कर रहे होंगे, या किसी असम्भव चीज़ के लिए संघर्ष नहीं कर रहे होंगे, अगर हम यह माँग करते हैं कि उस बच्चे को उसी सरकारी स्कूल में ही जॉर्जियाई भाषा, जॉर्जियाई इतिहास, आदि पर व्याख्यान मिलने चाहिए, कि उसे केन्द्रीय पुस्तकालय से जॉर्जियाई पुस्तकें मिलने का प्रावधान होना चाहिए, और यह कि राज्यसत्ता को एक जॉर्जियाई शिक्षक रखने के लिए योगदान देना चाहिए, वग़ैरह।...यह वास्तविक जनवाद तभी हासिल हो सकता है, जबकि सभी राष्ट्रीयताओं के मज़दूर एकजुट हों।" (लेनिन, 'रूसी स्कूलों में विद्यार्थियों की राष्ट्रीयता')

यानी महाराष्ट्र में कन्नड़ छात्रों के लिए सरकारी स्कूलों में कन्नड़ शिक्षक, बिहार, यूपी, मध्यप्रदेश के छात्रों के लिए हिन्दी शिक्षक, पंजाब में यूपी, बिहार, झारखण्ड, छत्तीसगढ़ के बच्चों के लिए हिन्दी शिक्षक, उड़ीसा के बच्चों के लिए उड़िया शिक्षक मुहैया कराने की माँग एक सही सर्वहारा माँग है, न कि इन बच्चों पर मराठी या पंजाबी थोप देने ("सिखाने") की माँग। इन प्रदेशों में इन बच्चों का जीवन, उनका आर्थिक-राजनीतिक क्रिया-व्यापार यदि उनसे यह माँग करेगा कि वे मराठी या पंजाबी सीखें, तो वे बिना किसी बाध्यताकारी नियम या दबाव के ये भाषाएँ सीखेंगे, जैसा कि लेनिन ने बताया था। अब आप स्वयं राष्ट्रीय व भाषाई अस्मितावादियों द्वारा इस प्रश्न पर अपनायी जा रही अवस्थिति से लेनिन की अवस्थिति की तुलना कर सकते हैं। इन राष्ट्रीय व भाषाई अस्मितावाद के विचलन के शिकार साथियों की अवस्थिति को जानने के लिए आप यह लिंक देख सकते हैं जिसमें हमने उनकी समूची अवस्थिति को सप्रमाण प्रस्तुत किया है : https://www.facebook.com/notes/3314490178567267 और https://www.facebook.com/notes/3325215700828048/.

तीसरी बात, ऐसे लोग यह भी कह रहे हैं कि उत्तर-पूर्व के राज्यों में एनआरसी का समर्थन और नागरिकता संशोधन क़ानून का विरोध वहाँ की "राष्ट्रीय अस्मिता को ख़तरे" और "राष्ट्रीय दमन" के कारण हो रहा है। इसके बारे में भी ठीक ऊपर दिये गये लिंक में आपको सन्दर्भ मिल जायेगा और ऐसा वे अपनी पत्र-पत्रिकाओं में लिख भी रहे हैं। या तो इन लोगों ने उत्तर-पूर्व के राज्यों का इतिहास ढंग से नहीं पढ़ा है, या फिर वे अपनी राष्ट्रीय कट्टरतावादी कार्यदिशा को वैध ठहराने के लिए हवा में तीर चला रहे हैं। ये दोनों ही मसले क्या हैं, इन्हें ठीक से समझ लेना चाहिए। पहली बात तो यह है कि नागरिकता संशोधन क़ानून का विरोध पूरे देश में हो रहा है, और असम समेत उत्तर-पूर्व के भी कई राज्यों में हो रहा है। **लेकिन पूर्वोत्तर के तमाम राज्यों में इस विरोध के दो हिस्से हैं। एक हिस्सा तो वह है जो कि सही कारणों के लिए सीएए का विरोध कर रहा है। यानी कि वह हिस्सा जिसका मानना है कि किसी भी सेक्युलर राज्य को नागरिकता देने के लिए किसी भी धर्म को आधार नहीं बनाना चाहिए और पीड़ित व उत्पीड़ित लोगों को, यदि वे पनाह माँगें तो मानवतावादी आधार पर नागरिकता व पनाह देनी चाहिए, जैसाकि कई यूरोपीय देशों, ऑस्ट्रेलिया वग़ैरह में है भी।** हर देश में कम्युनिस्टों को अन्तरराष्ट्रीयतावादी, जनवादी और सेक्युलर मानकों से ऐसे किसी भी नागरिकता क़ानून का समर्थन करना चाहिए जो कि हर प्रकार के सताए गये और पीड़ित लोगों को अपने देश में आने की आज्ञा देता है, उन्हें पनाह देता है और उन्हें नागरिकता देता है। यह क़तई सही माँग है। **सीएए की हमारी मुख़ालफ़त इस बात पर निर्भर नहीं करती है कि बाहरी लोगों को नागरिकता क्यों दी जा रही है (जैसा कि असम व कुछ पूर्वोत्तर राज्यों के कट्टरपन्थी व प्रवासी-विरोधी अन्धराष्ट्रवादी कर रहे हैं), बल्कि इस आधार पर निर्भर करती है कि नागरिकता देने में धर्म के आधार पर या नस्ल के आधार पर या किसी भी क़िस्म की फ़िरकापरस्ती के आधार पर भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। जिन कम्युनिस्टों को इतनी सीधी सी बात समझ में नहीं आती है, उन्हें कम्युनिज़्म के सिद्धान्त तो पढ़ने की बुरी तरह से दरकार है ही, साथ ही उन्हें जनवाद और मानवतावाद के भी बुनियादी सिद्धान्तों में अपना प्रशिक्षण करने की आवश्यकता है।** यहीं से हम दूसरे प्रकार के कट्टरपन्थी अन्धराष्ट्रवादियों पर आते हैं। दूसरा हिस्सा वह है जो कि इन राज्यों के राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय कट्टरतावादी (chauvinist) और प्रवासी-विरोधी (xenophobic) हिस्सा है। इस बाद वाले धड़े का सीएए-विरोध इस चीज़ पर टिका हुआ है कि इस क़ानून के द्वारा हिन्दू प्रवासियों को नागरिकता देने से असम व कुछ अन्य पूर्वोत्तर राज्यों की राष्ट्रीय अस्मिता ख़तरे में पड़ जायेगी और वहाँ के संसाधनों पर ज़्यादा दबाव पड़ जायेगा। इस पूरे अतार्किक आधार पर **साथी आनन्द सिंह** ने एक बहुत ही अच्छा लेख लिखा है, जिसे आप 'आह्वान' के मौजूदा अंक में पृष्ठ सं. 80 पर पढ़ सकते हैं। इसी प्रकार, एनआरसी का इस राष्ट्रवादी कट्टरपन्थी धड़े द्वारा समर्थन भी इसी आधार पर टिका है कि इसके ज़रिये सभी "ग़ैर-क़ानूनी प्रवासियों" की पहचान करके उन्हें बाहर किया जा सकेगा। पूर्वोत्तर में मौजूद इन कट्टरपन्थी व प्रवासी-विरोधी तत्वों द्वारा सीएए का एक

ग़लत आधार पर विरोध और एनआरसी का समर्थन समझा जा सकता है, हालाँकि जिन लोगों ने आल असम स्टूडेण्ट्स यूनियन की शुरुआत की थी और एनआरसी की सर्वप्रथम माँग की थी, वे भी आज इस बात को समझ रहे हैं कि यह माँग ही ग़लत थी और दुश्मन प्रवासी नहीं हैं, बल्कि भारतीय राज्यसत्ता और पूँजीवादी तंत्र है। **लेकिन मार्क्सवादी-लेनिनवादी आन्दोलन के भीतर भी कुछ राष्ट्रीय कट्टरपन्थ के शिकार तत्व हैं, जिन्हें पूर्वोत्तर के कट्टरपन्थी राष्ट्रवादियों से हमदर्दी महसूस होती है, क्योंकि उन्हें अपने राष्ट्रीय कट्टरपन्थ और भाषाई अस्मितावाद को सही ठहराना है।** बस दिक़्क़त यह है कि राष्ट्रीय अस्मितावाद और कट्टरपन्थ की दुनिया में आने में उन्होंने काफ़ी देर कर दी, यहाँ पहले से ही काफ़ी भसड़ है! असम में सीएए के विरोध और एनआरसी के समर्थन के पीछे वहाँ के आन्दोलन में मौजूद एक कट्टरपन्थी और प्रवासी-विरोधी धड़े पर मैं साथी आनन्द के लेख को पढ़ने का आग्रह करूँगा। (पृष्ठ सं. 80)

आख़िरी बात हम लेनिन के कुछ विचारों के साथ कहेंगे। लेनिन ने सबसे पहले यह सवाल पूछा कि कम्युनिस्टों को किन सूरतों में राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल होना चाहिए और उन्हें नेतृत्व देना चाहिए। **इसका पहला जवाब तो यही था कि जब वास्तव में उपरोक्त पैमानों पर राष्ट्रीय दमन हो रहा हो। और दूसरा जवाब यह था कि जहाँ कहीं जनसमुदाय राष्ट्रीय दमन के विरुद्ध अपनी मुक्ति के लिए संघर्ष नहीं कर रहे हैं, यानी कि जहाँ सम्पूर्ण अर्थों में राष्ट्रीय दमन है ही नहीं, वहाँ पर राष्ट्रीय आन्दोलन की स्थापना करना और राष्ट्रीय भावनाएँ जगाना कम्युनिस्टों का काम नहीं है।** लेनिन लिखते हैं कि पहली बात तो यह कि राष्ट्रीय दमन के विरुद्ध केवल राष्ट्रीय मुक्ति व राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का कार्यक्रम ही वाजिब है न कि भाषाई, शैक्षणिक व सांस्कृतिक स्वायत्तता का कार्यक्रम, जैसा कि हमारे देश के राष्ट्रीय व भाषाई अस्मितावादी विचलन के शिकार कुछ साथी कह रहे हैं। लेनिन जो दूसरी बात कहते हैं, वह यह है, जिस पर ख़ास तौर पर ग़ौर करने की आवश्यकता है :

"(आत्मनिर्णय का) हमारा कार्यक्रम केवल उन मामलों पर लागू होता है, जहाँ (अलग होने के लिए) ऐसा एक आन्दोलन अस्तित्वमान है।" (लेनिन, 'राष्ट्रों के आत्मनिर्णय का अधिकार')

लेनिन ने यहाँ एक बेहद अहम बात कही है जिस पर बहुत क़रीबी से ग़ौर किये जाने की ज़रूरत है। कम्युनिस्ट राष्ट्रवादी नहीं होते हैं, बल्कि वे दमित राष्ट्रीयता की राष्ट्रीय मुक्ति के समर्थक होते हैं, उसके लिए लड़ते हैं और उस लड़ाई को सर्वहारा नेतृत्व देने का प्रयास करते हैं। यदि कहीं पर सही मायने में राष्ट्रीय दमन है ही नहीं, तो भी, विशेष तौर पर एक बहुराष्ट्रीय देश में तमाम राष्ट्रों के टटपुँजिया वर्गों की राजनीति का एक हिस्सा होता है, जो कि राष्ट्रीय दमन की बात करता रहता है। सही मायने में राष्ट्रीय दमन क्या है, इसके बारे में हम ऊपर स्तालिन और केपकाया के विचारों के ज़रिये अपनी बात कह चुके हैं। कई बार कई कम्युनिस्ट शक्तियाँ भी इस प्रकार की टटपुँजिया राष्ट्रवादी राजनीति के असर में आ जाती हैं। यदि कहीं सही मायने में राष्ट्रीय दमन नहीं है और जनता के व्यापक जनसमुदाय किसी राष्ट्रीय मुक्ति के संघर्ष में आन्दोलित ही नहीं हैं, तो यह कम्युनिस्टों का कार्य नहीं होता है कि वह "राष्ट्रीय भावनाएँ" जगायें। लेनिन की उपरोक्त पूरी रचना ही पढ़ने योग्य है। इससे राष्ट्रीय प्रश्न पर बहुत से भ्रम दूर हो जाते हैं।

अन्त में, यही कहना चाहिए कि यदि कोई राष्ट्रीय दमन का मसला उठाता है, तो उसे उपरोक्त पैमानों पर जाँचा जाना चाहिए। क्या किसी राष्ट्रीयता का पूँजीपति वर्ग और उसके समेत समूची राष्ट्रीयता दमित है? यदि नहीं, तो वह राष्ट्र दमित राष्ट्र नहीं है। बेशक, उस राष्ट्र की भाषा के सामने दमन या संकट की स्थिति हो सकती है और कम्युनिस्ट उसके विरुद्ध भाषाई समानता के लिए संघर्ष भी करेंगे, लेकिन वह राष्ट्रीय दमन नहीं होता है। लेकिन भाषा के प्रश्न पर भी संघर्ष अस्मितावादी और कट्टरतावादी ज़मीन से होगा तो यह मज़दूर वर्ग की एकजुटता (जो वास्तव में एक तथ्य हो सकती है, या फिर एक सम्भावना सम्पन्नता, लेकिन इससे हमारे तर्क पर कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता है) को ही नुक़सान पहुँचायेगा, जैसा कि हमारे देश में राष्ट्रीय व भाषाई अस्मितावाद के शिकार कुछ मार्क्सवादियों-लेनिनवादियों की कार्यदिशा से होने का पूरा ख़तरा मौजूद है। दूसरी बात, यदि हम किसी राष्ट्रीयता के दमन की बात कर रहे हैं तो हमें दूसरी बात यह भी बतानी पड़ेगी कि किस राष्ट्र के शासक वर्ग इस राष्ट्रीय दमन को अंजाम दे रहे हैं। तीसरी बात, भाषा के प्रश्न पर और भाषाई दमन के प्रश्न पर सही मार्क्सवादी अवस्थिति का अर्थ क्या है। इन्हीं तीन प्रश्नों पर मैंने संक्षेप में यहाँ क्रान्तिकारी मार्क्सवाद-लेनिनवाद की अवस्थिति को स्तालिन, केपकाया और लेनिन के विचारों की मदद से पेश किया है। आगे जल्दी ही भारत में राष्ट्रीय प्रश्न पर और भाषा के प्रश्न पर विस्तृत शोध निबन्ध के साथ अपनी बात रखूँगा, हालाँकि 'आह्वान' के मौजूदा अंक में उस अवस्थिति के कई नुक़्ते कुछ आलोचनात्मक निबन्धों में भी मौजूद हैं।

●

भाषाई व राष्ट्रीय अस्मितावादी विचलन के शिकार ‘ललकार’ के साथियों से चली हमारी बहस में दोनों पक्षों की अवस्थितियाँ : एक महत्वपूर्ण याददिहानी

● **सम्पादक मण्डल, 3 फ़रवरी 2020**

साथियो,

आपको याद होगा कि सितम्बर 2019 में पंजाब के ‘ललकार’ पत्रिका के भाषाई व राष्ट्रीय अस्मितावाद के शिकार साथियों से ‘आह्वान’ की एक बहस चली थी। अब भाषाई व राष्ट्रीय अस्मितावादी विचलन के शिकार साथी अपने गोलपोस्ट को शिफ़्ट करते जा रहे हैं। मिसाल के तौर पर, वे कह रहे हैं कि ‘हमने यह तो कहा ही नहीं, हमने वह तो कहा ही नहीं’, वग़ैरह। इस सूरत में भाषा और राष्ट्रीयता के इन अहम प्रश्नों पर एक स्वस्थ बहस चल सके इसके लिए हम सभी साथियों के सामने इस बात की याददिहानी कर रहे हैं कि अस्मितावादी भटकाव से ग्रस्त हमारे ‘ललकार’ के साथियों ने क्या कहा था और क्या नहीं। इसके लिए हम इनके द्वारा आयोजित ‘माँ बोली सम्मेलन’ में पारित माँगपत्रक और इनकी पत्रिका ‘ललकार’ के माँ बोली विशेषांक के लेखों को प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसकी पीडीएफ़ फ़ाइल का लिंक यहाँ है। *(इस लिंक के लिए ‘आह्वान’ के फ़ेसबुक पेज पर इस पोस्ट को देखें – सम्पादक)* इसके अलावा, हम ‘ललकार’ के आधिकारिक फ़ेसबुक पेज द्वारा शेयर की गयी कुछ पोस्ट्स को भी यहाँ साझा कर रहे हैं *(लिंक के लिए ‘आह्वान’ के फ़ेसबुक पेज को देखें – सम्पादक)*, जिससे कि यह साफ़ हो जाये कि ‘ललकार’ की मूल अवस्थिति क्या थी। साथ ही हम अपने द्वारा पेश समूची आलोचना को भी यहाँ दुबारा शेयर कर रहे हैं, जिसकी पीडीएफ़ फ़ाइल का लिंक यहाँ है – *(लिंक के लिए ‘आह्वान’ के फ़ेसबुक पेज को देखें – सम्पादक)*।

चूंकि यह सारी सामग्री अब एक जगह पर है, इसलिए सभी साथियों को सुविधा होगी। हम याद दिला दें कि भाषाई व राष्ट्रीय अस्मितावादी विचलन के शिकार साथियों ने अपनी पत्रिका के उक्त विशेषांक, अपने माँ बोली सम्मेलन और अपनी पत्रिका के फ़ेसबुक पेज से और बाद में इनके तमाम लोगों ने जो बातें कहीं हैं, उनमें निम्न अवस्थितियाँ अपनायी गयी थीं :

1. पंजाब व पंजाबीभाषी बहुल इलाक़ों में समस्त शिक्षण-प्रशिक्षण, सरकारी कामकाज, यहाँ तक कि सारा ग़ैर-सरकारी कामकाज आदि ***सिर्फ़*** पंजाबी भाषा में ही होना चाहिए। यानी कि कारख़ानों और खेतों और अन्य कार्यस्थलों में काम करने वाले लाखों प्रवासियों के लिए भी पंजाबी सीखने को एक पूर्वशर्त बना दिया जाये। हमारे अस्मितावादी विचलन के शिकार साथी जोगा सिंह विर्क के पंजाबी भाषा की “सरदारी” (वर्चस्व) को सुनिश्चित करने के लिए दिये गये सुझावों का आधिकारिक तौर पर ‘ललकार’ के फ़ेसबुक पेज द्वारा अनुमोदन करते हैं, जिसमें एक माँग यह भी है कि न सिर्फ़ पंजाब सरकार के सभी दफ़्तरों में, बल्कि पंजाब में केन्द्र सरकार के भी सभी दफ़्तरों में केवल पंजाबी भाषा में कामकाज होना चाहिए। इसमें लिखा गया है, “पंजाब का *सरकारी ग़ैर-सरकारी सारा काम-काज पंजाबी* में करवाएँ। केन्द्र सरकार के नौकरियों/दाख़िलों की *सारी परीक्षाएँ पंजाबी में* करवाएँ। केन्द्र सरकार के पंजाब में स्थित *सारे दफ़्तरों को पंजाबी में* काम करने पर लगवाएँ।” ‘ललकार’ की यह पोस्ट जो कि जोगा सिंह विर्क के सुझावों को रखती है, पीडीएफ़ फ़ाइल में है।

2. पंजाब में पंजाबी भाषा को रोज़गार के लिए पूर्वशर्त बनाया जाना चाहिए। ‘ललकार’ के अंक 1 से 15 मई 2019 में छपे लेख “पंजाबी भाषा के ख़ात्मे की हुक्मरानों की साज़िशों के विरुद्ध संघर्ष के लिए आगे आओ!” में यह कहा गया है – “पंजाबी को सरकारी कामकाज और रोज़गार की भाषा बनाने के लिए संघर्ष शुरू किया जाये। जब तक पंजाबी रोज़गार की भाषा नहीं बनती, इस संकट से बचा नहीं जा सकता।” इसके अलावा माँ-बोली कन्वेंशन के लिए तैयार की गयी दफ़्ती पर साफ़ लिखा है, “रोज़गार की भाषा पंजाबी बनाओ”। इस दफ़्ती का फ़ोटो ‘आह्वान’ के फ़ेसबुक पेज पर इस पोस्ट के नीचे क्मेंट में देखा जा सकता है।

ग़ौरतलब है कि पंजाब में राज्य स्तरीय नौकरियों में पंजाबी भाषा पहले से ही पूर्वशर्त है। “GOVERNMENT OF PUNJAB DEPARTMENT OF PERSONNEL AND ADMINISTRATIVE REFORMS (PERSONNEL POLICIES BRANCH-1) NOTIFICATION The 4th May, 1994” का यह अंश पढ़ें –

“Knowledge of Punjabi Language. – No person shall be appointed to any post in any

service by direct appointment unless he has passed Matriculation Examination with Punjabi as one of the compulsory or elective subjects or any other equivalent examination in Punjabi Language, which may be specified by the Government from time to time: Provided that where a person is appointed on compassionate grounds on priority basis under the instructions issued in this behalf by the Government from time to time, the person so appointed shall have to pass an examination of Punjabi Language equivalent to Matriculation standard or he shall have to qualify a test conducted by the Language Wing of the Department of Education of Punjab Government within a period of six months from the date of his appointment: Provided further that where educational qualifications for a post in any service are lower than the Matriculation standard, then the person so appointed shall have to pass an examination of Punjabi Language equivalent to Middle standard: Provided further that where a War Hero, who has been discharged from defence service or para-military forces on account of disability suffered by him or her widow or dependent member of his family, is appointed under the instructions issued in this behalf by the Government, the person so appointed will not be required to possess aforesaid knowledge of Punjabi language: Provided further that where a ward of Defence Service Personnel, who is a bona fide resident of Punjab State, is appointed by direct appointment, he shall have to pass an examination of Punjabi Language equivalent to Matriculation Standard or he shall have to qualify a test conducted by the Language Wing of the Department of Education of Punjab Government within a period of two years from the date of his appointment."

यानी कि पंजाब राज्य सरकार की नौकरियों में पंजाबी भाषा का ज्ञान पहले ही एक पूर्वशर्त है। ऐसे में, 'ललकार' के भाषाई और राष्ट्रीय अस्मितावाद के शिकार साथियों द्वारा 'रोज़गार की भाषा को पंजाबी बनाओ' की माँग का क्या अर्थ है? इसके दो ही अर्थ हो सकते हैं : **पहला,** इसे निजी क्षेत्र की नौकरियों और केन्द्र सरकार की नौकरियों पर भी लागू करो, और **दूसरा,** पंजाब में रहना और काम करना है, तो पंजाबी भाषा का ज्ञान *अनिवार्य* बना दिया जाये। अब स्वयं सोचें कि क्या किसी भी दृष्टिकोण से यह माँग सर्वहारा माँग हो सकती है? यह भाषाई और राष्ट्रीय अस्मितावाद नहीं है, तो और क्या है?

3. 'ललकार' के भाषाई अस्मितावाद के शिकार साथियों का अस्मितावाद किस स्तर पर पहुँच गया है, उसकी एक बानगी आपको इस मिसाल से मिल जायेगी। 2017 में पंजाब के एक पूर्व गैंगस्टर और अब राजनीति में अपना सिक्का चमकाने के आकांक्षी लक्खा सिधाना के संगठन "माँ बोली सतिकार कमेटी" द्वारा पंजाब में हाइवे पर लगे साइनबोर्डों पर हिन्दी और अंग्रेज़ी में लिखे जगह के नामों पर कालिख पोतने की मुहिम चलायी गयी। 'ललकार' के 1 से 15 नवम्बर 2017 अंक के सम्पादकीय में यह कहते हुए इसे जायज़ ठहराया गया –

"...इस भेदभाव के विरुद्ध कालिख पोतने के रूप में असन्तोष का इज़हार एक स्वागतयोग्य क़दम है। यह बात सही है कि भाषाई ज़ुल्म के विरुद्ध लड़ाई केवल इन्हीं रोड-साइनों तक महदूद नहीं होनी चाहिए बल्कि आगे भी बढ़नी चाहिए। पर केवल इसी नुक़्ते के कारण इस पूरी मुहिम का विरोध नहीं किया जाना चाहिए बल्कि लोगों की भावनाएँ इसी तरह ही अचानक किसी घटना के रूप में फूटती हैं जिन्हें आगे सही दिशा देना और आगे बढ़ाना समाज के चेतनासम्पन्न तबक़े की ज़िम्मेदारी होती है।..." अब ज़रा कल्पना करें। दिल्ली में हिन्दीभाषी बहुसंख्या में हैं, इस वजह से क्या दिल्ली के साइनबोर्डों पर पंजाबी में लिखे गये निर्देशों पर कालिख पोत देनी चाहिए? क्या अंग्रेज़ी में लिखे गये निर्देशों पर कालिख पोत देनी चाहिए? फिर नॉर्थईस्ट से आने वाले हज़ारों प्रवासी किस प्रकार इन्हें पढ़ पायेंगे? क्या किसी बहुभाषी और भारी आन्तरिक प्रवास (30 प्रतिशत!) वाले देश में इस प्रकार की भाषाई कट्टरता का कोई कम्युनिस्ट समर्थन कर सकता है?

4. इनका मानना है कि जीन्द, हिसार, सिरसा, फतेहाबाद ज़िले मूलतः पंजाबी भाषी हैं, और उन्हें पंजाब में शामिल करने के लिए 1966 के भाषाई पुनर्गठन को रद्द करके फिर से भाषाई पुनर्गठन किया जाना चाहिए। 'ललकार' के अंक 16 अक्टूबर 2019 में छपे लेख "हरियाणा में पंजाबी लोग और पंजाबी मातृभाषा का मसला" का एक अंश – "1966 में पंजाब का भाषाई आधार पर फिर से विभाजन हुआ तो इस विभाजन का आधार भी भाषाई न होकर साम्प्रदायिक हो गया। राजनीतिक जोड़-तोड़ के कारण बहुत सारे अब के पंजाब के साथ लगते पंजाबी बोलते इलाक़े हरियाणा में शामिल कर लिये गये। अलग पंजाब बनाने के लिए मोर्चा लगाने वाले अकाली दल ने भी जानकारी होते हुए भी इन पंजाबी बोलते इलाक़ों पर दावा नहीं जताया। दरअसल 1966 का विभाजन ज़िलों के हिसाब से हुआ था। जो ज़िलों

की बहुसंख्या की भाषा थी, उसे उस हिसाब से पंजाब या हरियाणा में मिला दिया गया। हरियाणा के ज़िला सिरसा (जोकि 1975 में ज़िला बना) और ज़िला फतेहाबाद (जोकि 1997 में ज़िला बना) 1966 के विभाजन के समय ज़िला हिसार का हिस्सा थे। उस समय के हिसाब से ज़िले में आधी से ज़्यादा आबादी पंजाबी बोलती थी, भारत सरकार बागड़ी को पंजाबी की उपभाषा मानती है। अगर जिनकी मातृभाषा बागड़ी है उन्हें भी पंजाबी के दायरे में रखें तो उस समय के हिसार ज़िले में पंजाबी भाषाई आबादी तीन-चौथाई से बढ़ जाती है, पर फिर भी उसे हरियाणा में मिलाया गया। अकालियों ने भी इस पर विरोध ज़ाहिर नहीं किया क्योंकि ज़िला हिसार की बहुसंख्या हिन्दू थी और अकालियों को राजनीति जोड़-तोड़ के इधर-उधर हो जाने का डर था। उस समय का ज़िला करनाल जोकि आज के ज़िले कुरुक्षेत्र, कैथल आदि को मिलाकर बनता था उसका विभाजन भी ज़िला हिसार की तरह ही हुआ था। पर हैरानी की बात है कि उस समय का पेपसू का इलाक़ा (जिसमें आज के ज़िला संगरूर, जीन्द आदि पड़ते हैं) मुख्य तौर पर पंजाबी बोलता था और करनाल व हिसार ज़िले को हरियाणा में शामिल किये जाने के आधार पर पेपसू का पूरा इलाक़ा पंजाब का हिस्सा बनता था पर इसे पंजाब और हरियाणा के दरमियान दो हिस्सों (पंजाब में संगरूर और हरियाणा में जीन्द) में विभाजित कर दिया गया। या तो करनाल और हिसार के लिए भी यही पैमाना अपनाया जा सकता था या फिर सही ढंग से देखा जाये तो ये ज़िले पंजाब का हिस्सा बनते थे पर भारतीय हुक्मरान पंजाब राज्य को कम से कम इलाक़े तक सीमित कर देना चाहते थे। भारतीय हुक्मरानों की घटिया चालों और अकालियों के राजनीतिक जोड़-तोड़ के कारण पंजाबी बोलता बड़ा इलाक़ा हरियाणा का हिस्सा बना दिया गया जहाँ से हिन्दी थोपे जाने का सिलसिला शुरू हुआ और बदस्तूर जारी है।" इसी लेख का एक और अंश – "...अन्तिम बात यह है कि इस सब का बुनियादी कारण 1966 का अन्यायपूर्ण विभाजन है, इसलिए भाषाई आधार पर इलाक़ों का सही ढंग से विभाजन हो।" हम 'आह्वान' द्वारा पेश की गयी गयी आलोचना में सन्दर्भों समेत दिखा चुके हैं कि बागड़ी पंजाबी की बोली नहीं है बल्कि हरियाणवी, राजस्थानी व पंजाबी की सेतु बोली है, जिसमें लेक्सिकल निकटता सर्वाधिक हरियाणवी के साथ है। दूसरी बात, इस प्रकार की बात ही करना कि "भारतीय हुक्मरान पंजाब राज्य को कम से कम इलाक़े तक सीमित कर देना चाहते थे" 'ललकार' के गम्भीर अस्मितावादी और राष्ट्रीय विचलन को दिखलाता है। इससे यह भी ज़ाहिर होता है कि 'ललकार' के हमारे राष्ट्रीय अस्मितावाद के शिकार साथी पंजाब को दमित राष्ट्रीयता मानते हैं। उस सूरत में इन्हें राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति की लाइन को मानना चाहिए और पंजाब के अलग देश बनाये जाने की हिमायत करनी चाहिए।

5. 'ललकार' के अस्मितावादी विचलन के शिकार साथियों का मानना है कि पंजाब में रह रहे प्रवासी मज़दूरों को पंजाबी भाषा सिखायी जानी चाहिए। 17 अप्रैल 2019 को इनकी पत्रिका 'प्रतिबद्ध' के फ़ेसबुक पेज पर डाली गयी एक पोस्ट का अंश – "पंजाब में रहने वाले हर व्यक्ति के साथ पंजाबी भाषा में ही बात करने की कोशिश की जाये। प्रवासियों को पंजाबी सीखने के लिए प्रेरित किया जाये।" भाषा के प्रश्न पर इस कार्यदिशा और राज ठाकरे के अर्द्धफ़ासीवादी मनसे की कार्यदिशा में ज़्यादा फ़र्क़ नहीं है। जिस प्रवासी को अपने जीवनयापन और सामाजिक-आर्थिक क्रिया-व्यापार हेतु पंजाबी सीखने की आवश्यकता होगी, वह स्वयं ही सीख लेगा। न तो पंजाब के कुलक-फ़ार्मर और न ही औद्योगिक पूँजीपति ऐसी पूर्वशर्त रख रहे हैं कि प्रवासी पंजाबी में ही लिखें-बोलें। ऐसे में, 'बेगाने की शादी में अब्दुल्ला दीवाना' बनकर ऐसी बात करना इनके भाषाई अस्मितावादी विचलन को पूरी तरह अनावृत्त कर देता है। लेनिन ने स्वयं ही कहा था कि जब लोगों को अपने सामाजिक-आर्थिक अन्तर्क्रिया हेतु कोई भाषा सीखना अनिवार्य लगता है तो वे उसे स्वयं स्वेच्छा से अपनाते और सीखते हैं। किसी भाषा को इस प्रकार थोपना उस भाषा को ही हानि पहुँचाता है। जिस प्रकार कोई भी अस्मितावादी अपनी ही अस्मिता के जनसमुदायों को हानि पहुँचाता है और उसी प्रकार हमारे भाषाई अस्मितावादी विचलन के शिकार साथी भी सर्वाधिक हानि पंजाबी भाषा को ही पहुँचायेंगे।

6. आज पंजाब के हमारे अस्मितावादी विचलन के शिकार साथी सीएए के विरुद्ध अभियान चला रहे हैं। लेकिन जब सीएए के विरोध में असम में प्रदर्शन शुरू हुए थे, तो इन्होंने 'ललकार' के पेज पर असमिया राष्ट्रवादियों के स्टैण्डप्वाइन्ट से पोस्ट डाली थी। यह पोस्ट है, जो ललकार के पेज पर 11 दिसम्बर 2019 को डाली गयी थी (पोस्ट का लिंक – https://www.facebook.com/lalkaar.mag/photos/a.1795834380445290/3157822760913105/) इनकी अवस्थिति यह है कि असम में असमिया अस्मितावादियों द्वारा सीएए का विरोध इसलिए हो रहा है कि असम में असमिया लोग ही अल्पसंख्या हो जायेंगे जो कि वहाँ के "मूल निवासी" हैं और उनकी ये चिन्ताएँ वाजिब हैं! इससे उनकी भाषा और राष्ट्रीय संस्कृति ख़तरे में पड़ जायेंगे। इसका हमने आह्वान पर जो जवाब दिया वह इस लिंक पर देखा जा सकता है। (हमारे जवाब का लिंक – https://www.facebook.com/muktikamiahwan/posts/3195174193832200)

7. पूरे उपमहाद्वीप के विभाजन को रद्द करने की बजाय, केवल पाकिस्तान के पंजाबी सूबे और भारत के पंजाब के पुनःएकीकरण की बात करना और वियतनाम, जर्मनी

के एकीकरण और कोरिया के सम्भावित एकीकरण से उसकी तुलना करना 'ललकार' के हमारे भाषाई व राष्ट्रीय अस्मितावाद के शिकार साथियों की एक और विचित्र खोज थी। 'ललकार' के पेज पर 4 नवम्बर 2019 को डाली गयी पोस्ट का अनुवाद – "मानव इतिहास शोषण-उत्पीड़न रहित समाज के सृजन के लिए जद्दोजहदों से भरा पड़ा है। मानव इतिहास अन्यायपूर्ण युद्धों, बर्बर क़त्लेआमों का भी गवाह है। साम्राज्यवादियों-पूँजीवादी शासकों द्वारा क़ौमों के अन्यायपूर्ण बँटवारों और क़त्लेआम भी इतिहास की छाती पर अंकित हैं। इसके साथ ही इतिहास ने इन अन्यायपूर्ण बँटवारों को ख़त्म होते हुए भी देखा है। दूसरे विश्वयुद्ध में जर्मनी पूर्वी और पश्चिमी दो देशों में बँट गया। पर यहाँ के लोगों ने इस बँटवारे को कभी भी मंज़ूर नहीं किया। 1990 में बर्लिन की दीवार गिर गयी। जर्मनी के लोग फिर से एक हो गये। इस तरह उत्तरी और दक्षिणी हिस्सों में बँटा वियतनाम 1976 में एक हो गया। 1945 में कोरिया भी उत्तरी और दक्षिणी कोरिया में बँट गया। पर यह बँटवारा कोरिया के लोगों के दिलों को नहीं बाँट सका। इसलिए कोरिया के फिर से एकीकरण की बात लगातार चलती रहती है। भविष्य में इसके एक होने की सम्भावना है। पंजाब ने भी 1947 की त्रासदी झेली है। अंग्रेज़ शासकों ने यहाँ साम्प्रदायिकता के जो बीज बोये थे उन्होंने 1947 में 10 से 12 लाख पंजाबियों की बलि ले ली। कोई डेढ़ करोड़ पंजाबियों को उजड़ना पड़ा। पर यह सब भी पंजाब के दिलों को न बाँट सका। दोनों पंजाबों के लोगों में फिर से मिलने की प्रबल इच्छा है। देखना यह है कि क्या यहाँ भी जर्मनी, वियतनाम दोहराया जायेगा। अगर पंजाब का फिर से एकीकरण होता है तो इससे किसे तकलीफ़ हो सकती है? सबसे ज़्यादा तकलीफ़ तो साम्प्रदायिक लोगों को ही हो सकती है। या क़ौमों, क़ौमी भावनाओं के प्रति संवेदनहीन रवैया रखने वाले बौने बुद्धिजीवियों को हो सकती है। दिल्ली और इस्लामाबाद के शासकों को वाहगा के दोनों तरफ़ के लोगों के आपसी प्यार से तकलीफ़ हो सकती है। कम्युनिस्ट जो पूरी दुनिया के लोगों की एकता चाहते हैं, वे भला पंजाब और बंगाल या अन्य टुकड़े-टुकड़े की गयी क़ौमों की एकता क्यों नहीं चाहेंगे? (हाँ इस चाहत का हक़ीक़त बन सकना या न बन सकना भविष्य की बात है)। वे दोनों पंजाबों के लोगों के फिर इकट्ठा होने के जज़्बों की क़द्र क्यों नहीं करेंगे? अगर दुनिया में ऐसे अजूबे कम्युनिस्ट हैं तो उन पर तरस ही किया जा सकता है, हँसा भी जा सकता है।"

अलग-अलग प्रान्तों के एकीकरण की बात करना लेकिन पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में विभाजन की त्रासदी को 'अनडू' करने की बात न करना किस राजनीतिक कार्यक्रम की ओर ले जाता है, आप स्वयं समझ सकते हैं। दूसरे शब्दों में, 'ललकार' के अस्मितावादी विचलन के शिकार साथियों की ही भाषा में "दिल्ली और इस्लामाबाद" के शासकों के ख़िलाफ़ उन्हें 'कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ ग्रेटर पंजाब' बनानी चाहिए और दोनों के ख़िलाफ़ राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति और एकीकरण हेतु संघर्ष की शुरुआत करनी चाहिए! बंगाल के लोगों को भी ऐसा ही करना चाहिए! उन्हें "दिल्ली और ढाका" के शासकों के विरुद्ध "कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ ग्रेटर बंगाल" बनानी चाहिए और उसी प्रकार की राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति और एकीकरण के लिए लड़ना चाहिए! इस अस्मितावादी विचलन के अज्ञान की हास्यास्पदता यहीं ख़त्म नहीं होती। उसकी असली मिसाल सामने आती है जर्मनी और वियतनाम के एकीकरणों की और उनसे पंजाब के इनके प्रस्तावित एकीकरण की तुलना करने में। वैसे तो शुरू में इन्होंने इस बात से इन्कार किया था कि ये ग्रेटर पंजाब यानी महापंजाब नहीं माँग रहे। लेकिन इनके भटकाव अस्मितावादी विचलन की फटी झोली से बार-बार गिर ही जा रहे थे।

8. 'ललकार' के हमारे अस्मितावादी विचलन के शिकार साथियों की राजनीति ही नहीं, गणित भी कमज़ोर है। इनके अनुसार हरियाणा में 30 प्रतिशत पंजाबीभाषी हैं! इसका कोई ठोस भरोसेमन्द आँकड़ा पेश किये बिना 'कुछ मानिन्द लोगों के इम्प्रेशन्स' के आधार पर ऐसा दावा किया गया है! 'ललकार' के अंक 16 अक्टूबर 2019 में छपे लेख "हरियाणा में पंजाबी लोग और पंजाबी मातृभाषा का मसला" का एक अंश – "2011 की जनगणना के अनुसार हरियाणा में तक़रीबन 10 फ़ीसदी लोगों की मातृभाषा पंजाबी है पर असल में पंजाबी बोलने वाले लोगों की संख्या कहीं ज़्यादा है। कुछ माहिर पंजाबी बोलने वाले लोगों की आबादी 30 फ़ीसदी के आसपास बताते हैं।" हमने पहले ही इन ग़लत और झूठे आँकड़ों की सच्चाई अपनी पुरानी पोस्टों में रखी है।

9. 'ललकार' के अनुसार, हर बोली भाषा बनायी जानी चाहिए और इसके लिए हमें सचेतन तौर पर काम करना चाहिए। हरियाणवी को एक स्वतंत्र भाषा क़रार दिया गया है। लेकिन पंजाबी की बोलियों को अलग भाषा बनाने के हमारे अस्मितावादी पक्षधर नहीं हैं। यह परियोजना केवल हिन्दी भाषा पर लागू करनी है। हमारे भाषाई अस्मितावाद के शिकार साथियों का मानना है कि पंजाबी की बोलियों के साथ ऐसा नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि सभी पंजाबी बोलियाँ बोलने वाले एक-दूसरे को और साथ ही मानकीकृत पंजाबी भाषा को समझ लेते हैं, लेकिन हिन्दी की बोलियों के साथ ऐसा नहीं है। पहली बात तो यह है कि भाषा और बोली में फ़र्क़ करने का यह कोई आधार ही नहीं है। दुनिया में ऐसी कई भाषाएँ हैं, जिनकी सभी बोलियाँ बोलने वाले एक-दूसरे को नहीं समझ पाते या फिर बेहद मुश्किल से समझ पाते हैं। दरअसल, हमारे अस्मितावादी 'डायलेक्ट कॉण्टीनुअम' (dialect continuum) के सिद्धान्त से परिचित नहीं हैं, जो

ठीक यही बताता है कि एक ही भाषा की बोलियाँ हो सकती हैं, जिनको बोलने वाले एक-दूसरे की बोलियों को नहीं समझ पाते या मुश्किल से और आंशिक तौर पर समझ पाते हैं। (देखें, चैम्बर्स एण्ड ट्रडगिल, 'डायलेक्टॉलजी', सेकेण्ड एडीशन, केम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस, पृष्ठ 4) दूसरी बात, यह बात ही ग़लत है कि हरियाणवी बोलने वालों और भोजपुरी या मागधी बोलियाँ बोलने वालों को मानकीकृत हिन्दी समझ में नहीं आती है। अभी इसको तो हम छोड़ ही दें कि बोली और भाषा के बीच स्तालिन द्वारा किये गये विभाजन के बारे में इन लोगों की कोई समझदारी ही नहीं है। और बोलियों के बीच से किसी एक बोली को मुख्य तौर पर आधार बनाते हुए कोई भाषा किस प्रकार विकसित होती है, इस पर स्तालिन की समझदारी को पूरी तरह से अस्मितावादी विचलन के शिकार साथियों ने ग़ायब कर दिया है।

10. इनके अनुसार, हिन्दी एक "हत्यारी" और "साम्राज्यवादी" भाषा है, जिसे पहले अंग्रेज़ों ने और बाद में भारतीय पूँजीपति वर्ग की सत्ता ने भाषा बना दिया, अन्यथा यह अपने आप में किसी विचारणीय आकार के जनसमुदाय की भाषा ही नहीं है। फिर इसे अन्य बोलियों की "हत्या" करके तथाकथित हिन्दी पट्टी की जनता पर थोप दिया गया! इनके अनुसार, भोजपुरी, मागधी, अवधी, ब्रज, कौरवी, अहीरी, सभी बोलियों को अलग-अलग भाषा बना दिया जाना चाहिए। हम 'आह्वान' द्वारा पेश आलोचना में, जो कि संलग्न है, दिखला चुके हैं कि यह तर्क किस प्रकार अनैतिहासिक और अवैज्ञानिक है। लेकिन अस्मितावाद के शिकार हमारे 'ललकार' के साथी मानते हैं कि सभी बोलियों को भाषाएँ बनाने का यही काम पंजाबी भाषा की उपभाषाओं और बोलियों के साथ नहीं किया जाना चाहिए! इसके पीछे तर्क है कि सभी पंजाबी बोलियाँ बोलने वाले मानकीकृत पंजाबी को अच्छी तरह समझ लेते हैं, लेकिन हिन्दी की बोलियाँ बोलने वाले हिन्दी नहीं समझ पाते हैं, हालाँकि यह बात ही तथ्यतः ग़लत है। इसका हम पिछले बिन्दु में खण्डन दे चुके हैं।

11. पंजाबी भाषा की "सरदारी" (वर्चस्व) को पंजाब में सुनिश्चित करने के लिए जोगा सिंह विर्क द्वारा सुझाये गये क़दमों की 'ललकार' के आधिकारिक पेज से हिमायत की गयी है। 26 सितम्बर 2019 को 'ललकार' के पेज पर जोगा सिंह विर्क की एक पोस्ट साझा की गयी, जिसका शीर्षक था – "पंजाबी की सरदारी (वर्चस्व) के लिए ज़रूरी काम"। वैसे मार्क्सवादी-लेनिनवादी कभी भी किसी भाषा के वर्चस्व को स्थापित करने की बात नहीं करते, बल्कि सभी भाषाओं व राष्ट्रों की पूर्ण समानता की बात करते हैं। भारत जैसे बहुराष्ट्रीय देश में इस बात की प्रासंगिकता विशेष तौर पर है।

12. कुछ पोस्टें 'ललकार' के साथियों ने हमारे द्वारा की जा रही आलोचना की प्रक्रिया में ही बिना किसी आत्मालोचना के हटा दीं। जैसे कि 'ललकार' द्वारा शेयर किये गये एक वीडियो में पंजाबी को सिख धर्म और गुरुओं और देश की भाषा क़रार दिया गया था। एक अन्य पोस्ट में ज़ायनवादी हत्यारों के सबसे बड़े समर्थकों में से एक जस्तिन त्रूदो को कनाडा की संसद की कार्रवाई के पंजाबी में प्रसारण करने पर बधाई दी गयी थी, कि पंजाबियों के कनाडा में अल्पसंख्या होने के बावजूद त्रूदो ने ऐसा किया। हालाँकि, इसी सिद्धान्त को पंजाब में हमारे अस्मितावादी लागू नहीं करते हैं। वहाँ पर सारी शिक्षा व सरकारी कामकाज ***केवल*** पंजाबी में होना चाहिए, और प्रवासियों को पंजाबी सीखनी चाहिए! इन हटा दी गयी पोस्टों का मैटर भी संलग्न फ़ाइल में शामिल है।

13. हिमाचल प्रदेश की भी कई बोलियों को पंजाबी की बोलियाँ होने का दावा किया जाता रहा है। मिसाल के तौर पर, इनके ही एक साथी ने अपनी एक पोस्ट "पंजाबी और बिलासपुरी भाषा के आपस में जुड़े तार" में दावा किया है कि बिलासपुरी वास्तव में पंजाबी के क़रीब पड़ती है। सच्चाई यह है कि बिलासपुरी बोली भाषाविज्ञानी तौर पर पश्चिमी पहाड़ी भाषा परिवार में आती है, पंजाबी में नहीं।

14. चण्डीगढ़ को पंजाब में शामिल किये जाने की माँग को भी 'ललकार' के भाषाई और राष्ट्रीय अस्मितावादियों ने पुरज़ोर तरीक़े से बार-बार उठाया है। इसके लिए आज चण्डीगढ़ में रहने वाली आबादी की राय कोई मायने नहीं रखती! बस हमारे अस्मितावादियों की राय मायने रखती है! इस पूरे तर्क का खण्डन भी हम पहले ही अपने आलोचनात्मक निबन्धों में पेश कर चुके हैं। (इनमें से कुछ इस अंक में संलग्न हैं – सम्पादक)

15. जब अस्मितावाद का कैंसर फैलता है तो वह एक अंग में रुकता नहीं है। हमारे 'ललकार' के अस्मितावादी विचलन के शिकार साथियों का अस्मितावाद भाषा और राष्ट्र के सवाल पर शुरू हुआ है लेकिन इस बात के स्पष्ट संकेत हैं कि यह जल्द ही अन्य रूपों में भी प्रकट हो सकता है। मिसाल के तौर पर, दिल्ली में एक सिख ऑटो चालक के साथ पुलिस द्वारा मारपीट की घटना को इन्होंने यह कहते हुए धार्मिक रंग देने की कोशिश की कि उसे पुलिस ने इसलिए पीटा था क्योंकि वह सिख था। इस पर पंजाब के ही तमाम तर्कसंगत लोगों ने इनका विरोध किया था। सभी जानते हैं कि हर धर्म के ऑटो ड्राइवरों के साथ आये-दिन पुलिस मारपीट करती है, इसलिए क्योंकि वे मेहनतकश तबक़े से आते हैं। इसकी फ़ेसबुक पोस्ट का लिंक संलग्न फ़ाइल में है। इस मसले को धार्मिक रंग देना वास्तव में इनके अस्मितावादी रुझान को ही दिखलाता है। इसी प्रकार क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन के एक शहीद की तुलना भाई सती दास व भाई मती दास से भी की गयी थी। यह भी इसी आम अस्मितावादी रुझान को

ही दिखलाता है।

इसी प्रकार की अन्य कई बातें कहीं गयीं जो कि किसी भी रूप में एक सर्वहारा लाइन नहीं है। अब हमारे भाषाई अस्मितावादी विचलन के शिकार साथी इनमें से कई बातों से मुकर रहे हैं कि उन्होंने तो ऐसी बात ही नहीं कही, इसलिए हमने उनके द्वारा अपनी पत्रिका, फ़ेसबुक पेज आदि पर प्रस्तुत किये गये विचारों को भी यहाँ पर शेयर कर दिया है, ताकि गोलपोस्ट शिफ़्ट न किया जा सके। क्योंकि गोलपोस्ट शिफ़्ट करने की वजह से कोई भी बहस स्वस्थ रूप से नहीं चल पाती है।

दूसरी बात, 'ललकार' के साथी यह दलील दे रहे हैं कि उन्होंने तो यह बातें बस कहीं हैं, लेकिन उनका इस पर आन्दोलन खड़ा करने या मोर्चा निकालने का कोई इरादा नहीं है। हमारा कहना है कि मार्क्सवादियों के लिए सिद्धान्त कर्मों का मार्गदर्शक होता है, बस 'कह देने' के लिए नहीं होता है। हर विवरण एक निर्देश होता है (every description is always-already a prescription)। हर विश्लेषण में एक कार्रवाई का कार्यक्रम भी होता है। यदि ऐसा नहीं है, तो आप मार्क्सवादी नहीं माने जायेंगे। यदि हमारे अस्मितावादी विचलन के शिकार साथियों का ऐसा मानना है, तो उन्हें इन बातों पर आन्दोलन जरूर करना चाहिए!

ख़ैर, हमने इन बातों के जवाब में मुख्यतः निम्न बातें कहीं हैं, जिन्हें आप साथ में शेयर किये गये दस्तावेज़ों में भी पढ़ सकते हैं :

1. पंजाब में शिक्षण-प्रशिक्षण व सरकारी कामकाज पंजाबी में तो अवश्य होना चाहिए, लेकिन ***सिर्फ़*** पंजाबी में हो, ऐसी माँग करना सर्वहारा वर्ग के ख़िलाफ़ जाता है। हमें ऐसी भाषा नीति की माँग करनी चाहिए कि हर राज्य में हर नागरिक को अपनी मातृभाषा में पढ़ने-लिखने व सरकारी कामकाज का ***विकल्प*** मुहैया किया जाना चाहिए। यह तो कोई ऐसी माँग भी नहीं है जो केवल समाजवादी व्यवस्था में ही पूर्ण हो सकती है, बल्कि कई यूरोपीय देशों ने समस्त शिक्षण-प्रशिक्षण व सरकारी कामकाज में अपनी सीमाओं के भीतर बोली जाने वाली कई या सभी भाषाओं का विकल्प मुहैया करके दिखला दिया है। दूसरी बात, ऐसी माँग एक ऐसे देश में मज़दूर-विरोधी माँग है, जहाँ 2001 की जनगणना के आधार पर आन्तरिक प्रवासी आबादी कुल आबादी का 30 प्रतिशत है। कहने की आवश्यकता नहीं है, इन प्रवासियों का 90 प्रतिशत से भी ज़्यादा हिस्सा मज़दूर वर्ग से आता है। ऐसे में, किसी भी राज्य के कम्युनिस्टों द्वारा ऐसी माँग उठाया जाना यही दिखलाता है, कि वे भाषा और राष्ट्रीयता के सवाल पर बुर्जुआ अस्मितावाद के विचलन का शिकार हैं।

2. इससे भी ज़्यादा प्रतिक्रियावादी माँग हमारे भाषाई और राष्ट्रीय अस्मितावादी विचलन के शिकार के साथियों की यह है कि पंजाब में रोज़गार के लिए पंजाबी भाषा को पूर्वशर्त बनाया जाये। राज्य के मातहत आने वाली सरकारी नौकरियों में पहले से यह शर्त है, लेकिन सभी नौकरियों में ऐसी माँग करना ही सर्वहारा दृष्टिकोण से एक प्रतिक्रियावादी माँग है। न तो पंजाब के पूँजीपति ये माँग कर रहे हैं और न ही कुलक-फ़ार्मर, कि सभी प्रवासी मज़दूर पंजाबी सीखें तो कोई सर्वहारा संगठन ऐसी माँग क्यों उठायेगा? यह किसी भी मानक से सर्वहारा माँग नहीं है। उल्टे यह मज़दूरों के प्रवास में बाधा पैदा करने वाली एक राष्ट्रवादी माँग है, जिसका लेनिनवादी मानकों से पुरज़ोर विरोध किया जाना चाहिए। कल्पना करें कि यही माँग महाराष्ट्र, गुजरात, उड़ीसा, बंगाल, उत्तराखण्ड, छत्तीसगढ़, तेलंगाना, आदि सभी राज्यों में उठा दी जाये, तो इसका क्या नतीजा होगा? और इसका उन राज्यों में रह रहे पंजाबी प्रवासियों पर क्या असर होगा?

3. हरियाणा में मौजूदा तौर पर केवल एक ज़िला है जिसमें पंजाबी भाषी बहुसंख्या में हैं, और वह है सिरसा। हम पहले भी तथ्यों व तर्कों समेत 'आह्वान' द्वारा अस्मितावादी विचलन के शिकार 'ललकार' के साथियों की आलोचना में यह दिखला चुके हैं कि किसी भी मानक से जीन्द, हिसार व फतेहाबाद पंजाबीभाषी बहुल नहीं हैं। हम ऐसे दावे पर यही कहेंगे कि पंजाब के हमारे भाषाई अस्मितावादी विचलन के शिकार साथियों को पंजाबी भाषा की "सरदारी" स्थापित करने का अपना अभियान जीन्द और हिसार तथा फतेहाबाद में आकर चलाना चाहिए! जनता ही अपने रचनात्मक तरीक़ों से उन्हें इस दावे के बेतुकेपन का मतलब समझा देगी। दूसरी बात, हमें सिरसा में पंजाबी भाषी आबादी के बहुसंख्या में होने के आधार पर उनकी मातृभाषा में शिक्षण-प्रशिक्षण व सरकारी कामकाज का अधिकार माँगना चाहिए। लेकिन यदि पंजाब राज्य में शामिल होने की जनता के बीच कोई माँग ही नहीं है, तो इस प्रकार की माँग को उठाकर गोलबन्दी करने का कोई तुक नहीं बनता है, क्योंकि यह मेहनतकश जनता के बीच ही विभाजन की दीवारें खड़ी करेगा। मूल बात यह है कि राज्यों के पुनर्गठन की माँग आज जनता की जीवन्त और ज्वलन्त माँग है ही नहीं और यह सर्वहारा माँग तो क़तई नहीं है। लेकिन अगर 'ललकार' के भाषाई और राष्ट्रीय अस्मितावादी विचलन के शिकार साथी ऐसा मानते हैं तो उन्हें सिर्फ़ बोलना नहीं चाहिए, बल्कि इसके

लिए जनान्दोलन भी खड़ा करना चाहिए। बागड़ी, बांगरू, आदि सभी बोलियों को पंजाबी भाषा की बोलियाँ क़रार देने का तथ्यों व तर्कों समेत जवाब हम 'आह्वान' की पोस्टों में दे चुके हैं जिन्हें हमने कालानुक्रम से मौजूदा नोट के साथ शेयर किया है। ऐसा ही दावा हमारे 'ललकार' के अस्मितावादी विचलन के शिकार साथी तमाम हिमाचली बोलियों के लिए भी करते रहे हैं।

4. हमारे अस्मितावादी विचलन के शिकार साथियों का मानना है कि पंजाब के प्रवासी मज़दूरों व आम तौर पर प्रवासियों को पंजाबी भाषा सिखायी जानी चाहिए। हमारा यह कहना है कि सामाजिक व आर्थिक क्रिया-व्यापार की आवश्यकता के आधार पर जो प्रवासी पंजाबी सीखना चाहेगा वह अवश्य सीखेगा और उसे सीखने में मदद भी की जानी चाहिए। लेकिन सभी प्रवासियों के लिए आप ऐसा फ़ैसला लेने वाले कौन हैं? क्या आप इसका भी समर्थन करेंगे कि यदि हरियाणा या उत्तराखण्ड के ज़िलों में रहने वाले पंजाबी प्रवासियों को ज़बरन हिन्दी या वहाँ की बोली सिखायी जाये? इसका पंजाब के हमारे 'बिग नेशन शॉविनिस्ट' भटकाव से ग्रस्त साथी समर्थन नहीं करेंगे! वह तो कनाडा में भी पंजाबी प्रवासियों को उनकी मातृभाषा का हक़ दिलाना चाहते हैं! लेकिन पंजाब में आते ही ग़ैर-पंजाबी भाषी प्रवासियों के बारे में उनके सारे मानक बदल जाते हैं!

5. पाकिस्तान के राज्य पंजाब और भारत के राज्य पंजाब के एकीकरण की बात करना और समूचे भारतीय उपमहाद्वीप के विभाजन को ख़त्म करने की बात न करना न केवल सैद्धान्तिक तौर पर ग़लत है, बल्कि व्यावहारिक तौर पर भी विचित्र राजनीतिक कार्यक्रम पर पहुँचता है। इनके अनुसार पंजाबियों को पाकिस्तान और भारत दोनों ही जगह क़ौमी दमन का सामना करना पड़ रहा है। तो इस कार्यदिशा के अनुसार एक 'कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ ग्रेटर पंजाब' की स्थापना करके हमारे पंजाब के अस्मितावादी विचलन के शिकार साथियों को भारत और पाकिस्तान की बुर्जुआज़ी के ख़िलाफ़ राष्ट्रीय मुक्ति की लड़ाई लड़नी चाहिए, ठीक वैसे ही जैसे उत्तरी वियतनाम और दक्षिणी वियतनाम ने लड़ी थी! सच तो यह है कि भारतीय उपमहाद्वीप में भारत हो या पाकिस्तान, दोनों ही जगहों पर जो क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट हैं, वे पूरे उपमहाद्वीप के ही साम्प्रदायिक आधार पर विभाजन को एक त्रासदी मानते हैं और इसे 'अनडू' करने की ऐतिहासिक परियोजना को वांछनीय मानते हैं। इसके लिए ज़ाहिरा तौर पर भारत और पाकिस्तान में समाजवादी क्रान्ति एक बुनियादी पूर्वशर्त है। इसी के ज़रिये मुख्य तौर पर पंजाब और बंगाल और इसके अलावा उन सभी क़ौमों के साथ हुए विभाजन के अन्याय को भी समाप्त किया जा सकता है, जो कि मौजूदा सीमा पर बसती हैं।

6. हिन्दी के "हत्यारी" और "साम्राज्यवादी" भाषा होने पर भी हमने अपनी पोस्टों में तर्कों व तथ्यों समेत विस्तृत आलोचना पेश की थी। वह भी यहाँ अटैच फ़ाइल्स में शेयर की गयी है। *(इनमें से कुछ मौजूदा अंक में शामिल हैं – सम्पादक)* साथ ही, बोली और भाषा के बीच फ़र्क़ न करने और हर बोली को भाषा के रूप में विकसित करने की अवैज्ञानिक और अनैतिहासिक सोच पर भी हमने क्लासिकीय मार्क्सवाद के सन्दर्भों के साथ आलोचना की है। वह भी शेयर की गयी फ़ाइलों में मौजूद है।

7. आख़िर में, किसी एक भाषा की "सरदारी" स्थापित करने की पूरी सोच के ग़ैर-मार्क्सवादी चरित्र पर भी हमने अपनी पोस्टों में विचार पेश किये हैं, वे भी यहाँ पेश फ़ाइलों में शामिल हैं।

अन्य बिन्दुओं पर हमारे विचार इस नोट के पहले हिस्से में 'ललकार' के अस्मितावादी भटकाव के शिकार साथियों की अवस्थिति पर चर्चा करते हुए रखे गये हैं और आह्वान द्वारा पेश की गयी आलोचनात्मक पोस्ट्स में शामिल हैं, जिन्हें पाठक अब एक स्थान पर संलग्न पीडीएफ़ में पढ़ सकते हैं।

ये याददिहानी इसलिए ज़रूरी थी कि अपनी इन मूल अवस्थितियों में थोड़ा-थोड़ा परिवर्तन करते हुए राष्ट्रीय व भाषाई अस्मितावादी विचलन के शिकार साथी अपना गोलपोस्ट शिफ़्ट करते जा रहे हैं, जिससे कि भ्रम की स्थिति पैदा करने का प्रयास किया जा रहा है। हमने जो फ़ाइलें साथ में शेयर की हैं, उनसे उनके द्वारा अपनायी गयी अवस्थितियाँ भी साफ़ तौर पर देखी जा सकती हैं और हमारे द्वारा पेश आलोचनाएँ भी एक स्थान पर कालानुक्रम के साथ पढ़ी जा सकती हैं।

आगे हम इन सभी सवालों पर आह्वान की अवस्थिति को एक स्थान पर क्लासिकीय लेनिनवादी अवस्थितियों के सन्दर्भों समेत दो अवस्थिति पत्रों में रखेंगे जिनमें से एक भारत में भाषा के प्रश्न पर होगा और दूसरा भारत में राष्ट्रीयताओं के सवाल पर। फ़िलहाल, पाठकों से आग्रह है कि आह्वान की सभी आलोचनात्मक पोस्टों को पढ़ लें, जिन्हें हमने एक स्थान पर कर दिया है। वे इस नोट के साथ ही संलग्न है।

●

भाषाई व राष्ट्रीय अस्मितावादी विचलन के शिकार साथियों के नये द्रविड़ प्राणायाम

● **सम्पादक मण्डल, 8 फ़रवरी 2020**

हमने 3 फ़रवरी को एक पोस्ट डालकर भाषाई व राष्ट्रीय अस्मितावादी विचलन के शिकार साथियों के साथ चली बहस के विषय में एक याददिहानी पोस्ट डाली थी कि इसमें किस पक्ष की क्या अवस्थिति थी। क्योंकि हमारे द्वारा रखी गयी आलोचना के बाद अस्मितावाद के शिकार साथी अपनी मूल अवस्थितियों को क्रमशः प्रक्रिया में बदलते हुए गोलपोस्ट शिफ़्ट कर रहे थे। इस पोस्ट में उठाये गये सवालों का ठोस जवाब देने की बजाय हमारे भाषाई और राष्ट्रीय अस्मितावाद के विचलन के शिकार साथियों ने एक पोस्ट डालकर दावा किया है कि हम भाषाई दमन का विरोध नहीं करते हैं, हम दमित क़ौमों की हिमायत नहीं करते हैं। इसमें पंजाब को "दिल्ली के शासकों" द्वारा दबायी गयी दमित क़ौम बताया है। इसमें से पहली दो बातें, यानी कि हम भाषाई दमन का विरोध नहीं करते और हम दमित क़ौमों के संघर्षों की हिमायत नहीं करते हैं, सरासर ग़लत और बेशर्म क़िस्म का हताशा में बोला गया झूठ है। ये अभी तक बहस को फ़ॉलो करने वाले सभी साथियों को अच्छी तरह से पता है। हमने पहले भी 'आह्वान' पर एक पोस्ट डालकर (4 नवम्बर की हमारी पोस्ट 'हमारी बातों के मुख्य बिन्दु' देखें) बताया था कि हम क्या कह रहे हैं और क्या नहीं। भाषाई और राष्ट्रीय अस्मितावादी विचलन के शिकार हमारे ये साथी अपनी इस नयी पोस्ट में बस ठोस सवालों का ठोस जवाब देने से बचने का एक दयनीय प्रयास कर रहे हैं। **अब इस पर आते हैं कि हमारे इन अस्मितावादी विचलन के शिकार साथियों ने नयी ग़लतियाँ क्या की हैं।**

'प्रतिबद्ध' पत्रिका के फ़ेसबुक प्रोफ़ाइल से हमारे अस्मितावादी विचलन के शिकार साथियों ने एक नयी पोस्ट डाली है, जिसमें किसी भी सवाल का जवाब नहीं दिया है और फिर से अपने क़ौमी जज़्बात जगाने वाले कुछ कथन डाल दिये हैं और साथ ही हम पर संघी प्रतिक्रियावादी राष्ट्रवाद के पक्ष में खड़े होने का आरोप लगा दिया है। लेकिन यह दयनीय प्रयास करते हुए भाषाई व राष्ट्रीय विचलन के शिकार हमारे दोस्त फिर से कुछ ग़लतियाँ कर बैठे हैं। इसमें कहा गया है कि "दिल्ली के शासक" पंजाब की दमित राष्ट्रीयता को भाषाई दमन और "राजधानी छीनकर" राष्ट्रीय दमन का शिकार बना रहे हैं। इसके कई नतीजे निकलते हैं और उससे कई सवाल निकलते हैं जिनका जवाब देने से अस्मितावादी विचलन के शिकार हमारे साथी शुरू से ही कतरा रहे हैं। **पहला नतीजा यह है कि यदि पंजाब एक दमित क़ौम है, तो उसके सामने स्पष्ट कार्यभार है राष्ट्रीय मुक्ति का और इसलिए वहाँ क्रान्ति की मंज़िल राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति की मंज़िल बनती है। दूसरा नतीजा यह है कि यह राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति एक दमनकारी राष्ट्र के पूँजीपति वर्ग के विरोध में होगी। अब सवाल यह उठता है कि यह प्रभुत्वशील (dominant) या दमनकारी (oppressor) क़ौम कौन है? दूसरे शब्दों में, क्या "दिल्ली के शासक" किसी विशिष्ट क़ौम की बुर्जुआज़ी हैं? अगर नहीं हैं तो इन "दिल्ली के शासकों" में क्या कई क़ौमों की बुर्जुआज़ी की नुमाइन्दगी है? यदि हाँ, तो ये "दिल्ली के शासक" किन क़ौमों की बुर्जुआज़ी की नुमाइन्दगी करते हैं? क्या इनमें पंजाबी क़ौम की बुर्जुआज़ी को भी नुमाइन्दगी हासिल है? अगर नहीं, तब तो स्पष्ट तौर पर क़ौमी दमन का मसला है और क्रान्ति का कार्यक्रम स्पष्ट तौर पर राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का बनता है।**

दूसरी बात, पंजाब के लोगों में और सिरसा और (अस्मितावाद के शिकार साथियों के अनुसार) फतेहाबाद, जीन्द, हिसार आदि की जनता में इन ज़िलों को पंजाब में शामिल कर लिये जाने के लिए यदि कोई स्पष्ट माँग है तो हमारे भाषाई और राष्ट्रीय अस्मितावादी विचलन के शिकार साथियों को इस पर एक आन्दोलन की शुरुआत करनी चाहिए। हम कई महीनों से इसका इन्तज़ार कर रहे हैं, लेकिन यह आन्दोलन शुरू ही नहीं हो रहा है! उसी प्रकार, यदि चण्डीगढ़ को पंजाब में शामिल करने के लिए जनता के बीच माँग है, तो इन्हें चण्डीगढ़ और पंजाब में इसके लिए भी एक आन्दोलन खड़ा करना चाहिए। इसका भी हमारा इन्तज़ार लम्बा हो गया है! लेकिन इस पर साफ़ कहा जाता है कि 'हम तो बस यह बात बोलेंगे, इस पर कोई आन्दोलन नहीं खड़ा करेंगे'। अजीब बात है! **अगर यह जनता की जायज़ माँग है, तो सिर्फ़ बोलना ही क्यों, इस पर एक जनान्दोलन क्यों नहीं खड़ा किया जाना चाहिए? ये दोनों ही माँगें क्यों ग़ैर-माँगें हैं और सर्वहारा नज़रिये से इन्हें उठाने की कोई प्रासंगिकता**

क्यों नहीं बनती है, इस पर हमारे तर्कों को जानने के लिए हमारे 3 फ़रवरी को शेयर किये गये नोट को पढ़ें, हम वे सारे तर्क यहाँ सौवीं बार दुहरायेंगे नहीं, जिनका अभी तक अस्मितावादी विचलन के शिकार हमारे साथियों ने कोई जवाब नहीं दिया है।

तीसरी बात, हमारे अस्मितावादी विचलन के शिकार दोस्त क़ौमी दमन का मतलब ही नहीं समझते हैं। उन्हें लगता है कि केवल भाषाई दमन को क़ौमी दमन कहा जा सकता है। स्तालिन ने स्पष्ट बताया है कि भाषाई दमन क़ौमी दमन का केवल एक तत्व है और यह अपने आप में क़ौमी दमन नहीं माना जा सकता है और इसी वजह से जहाँ सिर्फ़ यह पहलू मौजूद है, वहाँ पर कोई राष्ट्रीय आन्दोलन खड़ा नहीं हो पाता और वह *बस साइनबोर्डों की भाषा के तुच्छ झगड़ों में* तब्दील होकर रह जाता है (जैसा कि पंजाब का राजनीतिक महत्वाकांक्षाएँ रखने वाला एक भूतपूर्व गैंगस्टर कर भी रहा है और उसका 'ललकार' के भाषाई अस्मितावाद के शिकार साथी समर्थन भी कर रहे हैं!)। अन्य कारकों की मौजूदगी के साथ भाषाई दमन राष्ट्रीय दमन हो सकता है, या नहीं हो सकता है। इन अन्य कारकों में बुनियादी है किसान प्रश्न और साम्राज्यवादी औपनिवेशिकीकरण का प्रश्न। स्तालिन बोहेमिया का उदाहरण देकर इस बात को समझाते हैं। हम यहाँ कुछ उद्धरण पेश कर रहे हैं, क्योंकि हमारे भाषाई और राष्ट्रीय अस्मितावाद के विचलन के शिकार साथी कॉमरेड लेनिन और कॉमरेड स्तालिन के कुछ उद्धरण बिना किसी सन्दर्भ के और सन्दर्भों से काटकर पेश करते हैं, ताकि अपनी उल्टी-सीधी अवस्थितियों को अपने उन क़रीबियों के समक्ष सिद्ध कर सकें, जिनमें उनकी अस्मितावादी अवस्थिति को लेकर कुछ संशय, कुछ सवाल पैदा हो चुके हैं। निम्नलिखित उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जायेगा कि राष्ट्रीय दमन क्या है, उसमें भाषाई दमन का क्या स्थान है, वग़ैरह।

निम्न उद्धरणों में स्तालिन बताते हैं कि राष्ट्रीय आन्दोलन का सारतत्व क्या होता है और राष्ट्रीय दमन किसे कहते हैं :

"सटीक तौर पर कहें तो संघर्ष पूरे के पूरे राष्ट्रों के बीच नहीं शुरू होता है, बल्कि प्रभुत्वशील देशों के शासक वर्ग और उन देशों के शासक वर्गों के बीच शुरू होता है जो कि पृष्ठभूमि में धकेल दिये गये हैं। यह संघर्ष आम तौर पर दमित राष्ट्रों के निम्न-पूँजीपति वर्ग और प्रभुत्वशाली राष्ट्रों के बड़े पूँजीपति वर्ग (चेक व जर्मन), या दमित राष्ट्रों के ग्रामीण पूँजीपति वर्ग और प्रभुत्वशाली राष्ट्रों के भूस्वामी वर्ग (पोलैण्ड में यूक्रेनी) के बीच होता है, या फिर दमित राष्ट्रों के समूचे 'राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग' और प्रभुत्वशाली राष्ट्रों के शासक कुलीन सामन्त वर्ग के बीच होता है (रूस में पोलैण्ड, लिथुआनिया और यूक्रेन)।" (Stalin, 1998, Marxism and the National Question, Selected Works, Volume 2, New Horizon Book Trust, Kolkata, p. 259)

आगे भी देखें :

"हर रूप में दबाया गया दमित राष्ट्र का पूँजीपति वर्ग नैसर्गिक तौर पर आन्दोलन में कूद पड़ता है। यह अपने 'देशी लोगों' से अपीलें करता है और 'पितृभूमि' के बारे में शोर मचाना शुरू कर देता है; यह दावा करते हुए कि उसका लक्ष्य ही पूरे राष्ट्र का लक्ष्य है। यह अपने 'देशवासियों' के बीच से...'पितृभूमि' के हितों में एक सेना खड़ी करता है। 'लोग' भी हमेशा उसकी अपीलों का जवाब न दें ऐसा नहीं होता; वे भी उसके झण्डे तले एकत्र होते हैं : ऊपर से दमन उन्हें भी प्रभावित करता है और उनके असन्तोष को भी बढ़ावा देता है।

"इस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू होता है।

"राष्ट्रीय आन्दोलन की शक्ति इस बात से निर्धारित होती है कि राष्ट्र के व्यापक हिस्से, यानी कि मज़दूर और किसान वर्ग, किस हद तक इसमें हिस्सेदारी करते हैं।

"सर्वहारा वर्ग पूँजीवादी राष्ट्रवाद के झण्डे तले जाता है या नहीं यह वर्ग अन्तरविरोधों के विकास की मंज़िल पर, सर्वहारा वर्ग की वर्ग चेतना और उसके संगठन की मंज़िल पर निर्भर करता है। वर्ग-सचेत सर्वहारा का अपना परखा हुआ झण्डा है, और उसे पूँजीपति वर्ग के झण्डे तले जाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

"जहाँ तक किसानों का प्रश्न है, तो राष्ट्रीय आन्दोलन में उनकी भागीदारी प्राथमिकतः दमनों के चरित्र पर निर्भर करती है। अगर दमन 'ज़मीन' को प्रभावित करते हैं, जैसा कि आयरलैण्ड में था, तो किसानों के व्यापक जनसमुदाय तत्काल राष्ट्रीय आन्दोलन के झण्डे तले गोलबन्द हो जाते हैं।" (ibid, p. 260)

और देखें :

"लेकिन, दूसरी ओर, मिसाल के तौर पर, जॉर्जिया में अगर कोई रूसी-विरोधी राष्ट्रवाद नहीं है तो इसका प्रमुख कारण यह है कि वहाँ कोई रूसी ज़मीन्दार वर्ग या रूसी बड़ा पूँजीपति वर्ग नहीं है जो कि जनसमुदायों के बीच इस राष्ट्रवाद को हवा दे सके। जॉर्जिया में, एक आर्मेनियाई-विरोधी राष्ट्रवाद है; लेकिन ऐसा इसलिए है क्योंकि अभी भी वहाँ एक आर्मेनियाई बड़ा पूँजीपति वर्ग है, जो छोटे और अभी भी सशक्त नहीं बने जॉर्जियाई पूँजीपति वर्ग पर अपनी वरीयता स्थापित करके उसे आर्मेनियाई-विरोधी राष्ट्रवाद की ओर धकेलता है।

"इन कारकों के आधार पर, राष्ट्रीय आन्दोलन या तो

एक जन चरित्र अपनाता है और तेज़ी से बढ़ता है (जैसा कि आयरलैण्ड और गैलीशिया में हुआ) या फिर तुच्छ टकरावों में बदल जाता है, जो कि जल्द ही साइनबोर्डों को लेकर लड़ाइयों और 'झगड़ों' में बदल जाता है (जैसा कि बोहेमिया के छोटे शहरों में हुआ)" [कहना होगा कि ऐसा भारत में भी कुछ राज्यों में हुआ है, जैसा कि पंजाब में एक भूतपूर्व गैंगस्टर द्वारा साइनबोर्डों से हिन्दी मिटाने की मुहिम में देखा जा सकता है, हालाँकि कुछ राष्ट्रीय व भाषाई अस्मितावाद के शिकार "मार्क्सवादी" भी इसे "राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति" मानते हैं! – लेखक] (वही, p. 260-61)

यह है राष्ट्रीय प्रश्न का सारतत्व। यदि यह मौजूद नहीं है तो भी भाषाई दमन हो सकता है, सांस्कृतिक दमन हो सकता है, लेकिन वह अपने आप में राष्ट्रीय दमन नहीं बन सकता है। स्तालिन ने बार-बार और अन्य स्थानों पर भी इस बात की याददिहानी की है कि किसान प्रश्न के बग़ैर राष्ट्रीय प्रश्न का कोई बुनियादी तत्व नहीं बचता है। किसान प्रश्न भी अपने आप में राष्ट्रीय प्रश्न नहीं है, लेकिन *यह उसकी अन्तर्वस्तु का बुनियादी तत्व है।* यदि यह प्रश्न हल है, तो फिर एक ही सूरत में राष्ट्रीय मुक्ति का कार्यभार तात्कालिक तौर पर प्रधान अन्तरविरोध बनता है : औपनिवेशिकीकरण, यानी किसी अन्य देश द्वारा क़ब्ज़ा। किसान प्रश्न मूलतः राष्ट्रीय प्रश्न का सारतत्व है, इसे स्तालिन निम्न उद्धरण में स्पष्ट कर देते हैं :

"यह ग़लती उसे (सेमिच को) एक और ग़लती की ओर ले जाती है, यानी इस बात से उसका इन्कार करना कि राष्ट्रीय प्रश्न अपने सार में वस्तुतः किसान प्रश्न ही है। कृषि प्रश्न नहीं बल्कि किसान प्रश्न क्योंकि ये दोनों अलग चीज़ें हैं। यह बिल्कुल सही है कि किसान प्रश्न ही हूबहू राष्ट्रीय प्रश्न नहीं हैं, क्योंकि, किसान प्रश्न के साथ-साथ राष्ट्रीय संस्कृति, राष्ट्रीय राज्य आदि के प्रश्न जुड़े होते हैं। लेकिन यह भी सन्देह से परे हैं, कि अन्ततः, किसान प्रश्न राष्ट्रीय प्रश्न का आधार, उसका सारतत्व है। यही इस तथ्य को व्याख्यायित भी करता है कि किसान ही राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य सेना होते हैं, कि बिना किसान सेना के न तो राष्ट्रीय आन्दोलन होता है और न ही हो सकता है।" (स्तालिन, 1954, 'यूगोस्लाविया में राष्ट्रीय प्रश्न के विषय में', फ़ॉरेन लैंगुएजेज़ प्रेस, मॉस्को)

जहाँ तक प्रश्न है कि किसी भी राष्ट्रीयता की अपनी भाषा को विशिष्ट दर्जा दिये जाने की माँग उठाने का, तो हमारे भाषाई और राष्ट्रीय अस्मितावादी विचलन के शिकार साथी स्वयं यह माँग उठाते हैं क्योंकि उनका मानना है कि पंजाब में शिक्षण-प्रशिक्षण और सरकारी कामकाज की भाषा सिर्फ़ पंजाबी होनी चाहिए और रोज़गार के लिए पंजाबी को पूर्वशर्त बनाया जाना चाहिए। हमने 3 फ़रवरी की पोस्ट में दिखलाया था कि पंजाब सरकार की नौकरियों के लिए यह शर्त पहले से मौजूद है। और केन्द्रीय सरकार की नौकरियों और निजी नौकरियों के लिए ऐसी माँग करना प्रतिक्रियावादी है और सर्वहारा वर्ग का ऐसी माँग के साथ कोई रिश्ता नहीं हो सकता है। पंजाब में केन्द्रीय सरकार के नौकरियों की परीक्षा पंजाबी में होने के साथ प्रमुख सम्पर्क भाषाओं, यानी हिन्दी व अंग्रेज़ी में भी होनी चाहिए। आइए यह भी देख लेते हैं कि राष्ट्रीयताओं द्वारा अपनी भाषा को विशिष्ट दर्जा देने की माँग के बारे में स्तालिन के क्या विचार हैं। यहाँ स्तालिन यहूदियों के बारे में बात करते हुए स्पष्ट करते हैं कि वे तमाम देशों में राष्ट्रीय अल्पसंख्या हैं और *बुण्ड* ने उनके लिए भाषा के तौर पर यिडिश भाषा को विशेष दर्जा देने, आदि की माँग की थी। देखें स्तालिन इस पर क्या कहते हैं :

"सामाजिक-जनवाद सभी राष्ट्रों के अपनी भाषा का इस्तेमाल करने के अधिकार को सुरक्षित करने के लिए संघर्ष करती है। लेकिन बुण्ड के लिए यह पर्याप्त नहीं है; वह माँग करता है कि 'यहूदी भाषा के अधिकारों' की 'अपवादस्वरूप दृढ़ता' से वकालत की जानी चाहिए, और बुण्ड ने चौथी दूमा के लिए चुनावों में स्पष्ट रूप से ख़ुद ही घोषण की कि वह 'उन लोगों को प्राथमिकता देगा जो कि यहूदी भाषा के अधिकारों की रक्षा की शपथ लेंगे'

"यानी अपनी भाषा का इस्तेमाल करने के सभी राष्ट्रों के आम हक़ नहीं, बल्कि यहूदी भाषा यिडिश के विशेष अधिकार की बात! सभी राष्ट्रीयताओं के मज़दूरों को प्राथमिक तौर पर अपनी-अपनी भाषा के लिए लड़ने दो : यहूदी लोग यहूदी भाषा के लिए, जॉर्जियाई जॉर्जियाई के लिए, आदि। सभी राष्ट्रों के आम अधिकारों के लिए संघर्ष गौण मुद्दा है...

"लेकिन फिर बुण्ड बुर्जुआ राष्ट्रावादियों से किन अर्थों में भिन्न है?" (वही, p. 288)

क्या हमारे भाषाई व राष्ट्रीय अस्मितावाद के शिकार साथियों पर ठीक यही बात लागू नहीं होती? वे भी पंजाब में प्रवासियों को पंजाबी सिखाए जाने की हिमायत करते हैं (चाहे वे ऐसा चाहें या न चाहें, क्योंकि सीखनी तो उन्हें पड़ेगी ही अगर पंजाबी भाषा पंजाब में रोज़गार की पूर्वशर्त होगी!) लेकिन हर राष्ट्रीयता के मेहनतकशों को हर स्थान पर उनकी भाषा में शिक्षण-प्रशिक्षण, सरकारी कामकाज और रोज़गार के हक़ की हिमायत नहीं करते हैं। जबकि लेनिनवादी अवस्थिति यह है कि सही जनवादी माँग यह है कि हर राष्ट्रीयता के मेहनतकश को उसकी भाषा में पढ़ने-लिखने व काम करने का अवसर प्राप्त हो। यदि वह किसी अन्य भाषाभाषी क्षेत्र में है, तो भी वहाँ की

भाषा सीखना या न सीखना उसकी इच्छा का मसला है। लेनिन ने ख़ुद ही बताया था कि इसे बाध्यताकारी क़तई नहीं बनाया जाना चाहिए, क्योंकि जब सामाजिक और आर्थिक अन्तर्क्रिया इसे अनिवार्य कर देगी तो वह स्वयं ही बिना किसी दबाव के उस नयी भाषा को सीखेगा।

हमारे भाषाई और राष्ट्रीय अस्मितावाद के विचलन के शिकार साथी सीएए-एनआरसी पर अपनी फ़ेसबुक पोस्ट (https://www.facebook.com/lalkaar.mag/photos/a.1795834380445290/3157822760913105/) में असम में एनआरसी के मुद्दे पर गोलमोल अवस्थिति लेते हुए वहाँ पर "शरणार्थियों की समस्या", असमियों के राष्ट्रीय हितों के ख़तरे में पड़ जाने, मूलनिवासी असमियों के अल्पसंख्यक हो जाने और संसाधनों का संकट आ जाने की बात करते हैं। वे शरणार्थियों और प्रवासियों के प्रवाह के कारण असमिया भाषा और राष्ट्रीय संस्कृति के ख़तरे में पड़ जाने की बात करते हैं। वह इस पर साफ़ नहीं बताते कि असम में एनआरसी (यदि वह बिल्कुल भ्रष्टाचार के बिना और "सही" तरीक़े से हो तो!) सही है या नहीं! **असुविधाजनक प्रश्नों से मुँह चुराकर भागने का यह एक तरीक़ा है।** सच यह है कि मार्क्सवादी दृष्टिकोण से विदेशी-मूलनिवासी, फ़ॉरेनर, एलियन तत्व जैसी चीज़ों का कोई मतलब नहीं है। दुनिया भर के मार्क्सवादी मानते हैं कि जो भी व्यक्ति किसी समाज में रहता है और अपनी मेहनत से उसमें समृद्धि का सृजन करता है, वह विदेशी या एलियन नहीं है। यहाँ तक कि ऑस्ट्रेलिया जैसे पूँजीवादी देश में व्हिटलम की उदारवादी सरकार ने 'ओपेन डोर पॉलिसी' की बात की थी और कहा था कि ऑस्ट्रेलिया के तट पर उतरने वाले किसी भी व्यक्ति को सरकार वापस नहीं भेज सकती। आज राष्ट्रवाद के उभार के साथ ऑस्ट्रेलिया अपनी उस पुरानी मानवतावादी नीति को छोड़ रहा है। दूसरी बात, मार्क्सवादी मानते हैं और जानते हैं कि संसाधनों का संकट पूँजीवादी व्यवस्था की अराजकता से पैदा होता है, न कि शरणार्थियों के कारण। शरणार्थी आम तौर पर मेहनतकश अवाम का हिस्सा होते हैं और वे समृद्धि पैदा करते हैं, परजीवी वर्गों के समान उसे सिर्फ़ खाते नहीं हैं। असम में भी बंगाली, बिहारी, उड़िया प्रवासी समृद्धि को परजीवियों के समान खाने वाले वर्ग नहीं हैं, बल्कि समृद्धि को पैदा करने वाले और कुदरती संसाधनों का उत्पादक उपयोग और संरक्षण करने वाले लोग हैं। तीसरी बात, मार्क्सवादी प्रवासियों के कारण राष्ट्रीय संस्कृति और भाषा के ख़तरे में पड़ जाने या मूलनिवासियों के अल्पसंख्या बन जाने को लेकर पेट दर्द नहीं पैदा करते हैं। यहाँ तक कि ऑल असम स्टूडेंट यूनियन के उन तमाम नेताओं को भी आज यह बात समझ में आ गयी है कि असम आन्दोलन में एनआरसी की माँग करके और शरणार्थी-विरोधी व प्रवासी-विरोधी राजनीति को हवा देकर उन्होंने एक भारी भूल की थी और अपने ही पाँव पर कुल्हाड़ी मारी थी। लेकिन राष्ट्रीय अस्मितावादी विचलन की दुनिया के हमारे नवागंतुकों को यह बात समझ में नहीं आ रही है। फ़र्ज़ करें कि पुरानी दिल्ली के मूल बाशिन्दे भी कहें कि 1947 में विभाजन के बाद पंजाब से और उसके बाद पश्चिमी उत्तर प्रदेश आदि से आये प्रवासियों के कारण वे अपने ही सूबे में अल्पसंख्या हो गये और ग़ैर-दिल्लीवासियों की लिस्ट बनाकर उन्हें बाहर किया जाये, तो क्या इस माँग का कोई तुक होगा? बेहद स्पष्ट है कि सर्वहारा दृष्टिकोण से मूलनिवासी राजनीति और उनकी विशिष्ट संस्कृति की रक्षा की राष्ट्रवादी पुकार का कोई तुक नहीं बनता है, उल्टे यह प्रतिक्रियावादी मानी जायेगी। ऐसी बात अल्जीरियाई, ट्यूनीशियाई व अन्य उत्तर-अफ़्रीकी शरणार्थियों के लिए फ़्रांसीसी लोग भी कह सकते हैं और फ़्रांस के प्रतिक्रियावादी राष्ट्रवादी कह भी रहे हैं। आइए मूल निवासियों की राष्ट्रीय सांस्कृतिक विशिष्टता की हिफ़ाज़त को लेकर परेशान लोगों के बारे में भी लेनिन और स्तालिन के विचार जान लेते हैं। लेनिन लिखते हैं :

"सामाजिक-जनवाद के दृष्टिकोण से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रीय संस्कृति का नारा क़तई नहीं दिया जा सकता है। यह नारा ग़लत है क्योंकि पूँजीवाद के अन्तर्गत पहले ही समस्त आर्थिक, राजनीतिक और आत्मिक जीवन अधिक से अधिक अन्तरराष्ट्रीय बनता जा रहा है। समाजवाद इसे पूर्ण रूप से अन्तरराष्ट्रीय बना देगा। अन्तरराष्ट्रीय संस्कृति, जो कि अब पहले ही सभी देशों के सर्वहारा वर्ग द्वारा व्यवस्थित रूप से रची जा रही है, 'राष्ट्रीय संस्कृति' को पूरी तरह से अपनाती नहीं है (चाहे वह किसी भी राष्ट्रीय समूह की हो), बल्कि हरेक राष्ट्रीय संस्कृति से केवल उन तत्वों को स्वीकार करती है जो कि निरन्तरतापूर्ण रूप में जनवादी और सामाजिक हैं।" (लेनिन, 'थीसीज़ ऑन नेशनल क्वेश्चन')

इसी प्रकार स्तालिन कहते हैं :

"और यह किसी भी प्रकार से कोई संयोग नहीं है कि ऑस्ट्रियाई सामाजिक-जनवादियों के राष्ट्रीय कार्यक्रम में **'विभिन्न जनताओं की राष्ट्रीय विशिष्टताओं का संरक्षण और विकास'** के प्रति चिन्ता शामिल है। ज़रा सोचिए : ट्रांसकॉकेशियाई तातारों *शाख्सेई-वाख्सेई* त्योहार में आत्मपीड़न की 'राष्ट्रीय विशिष्टता' का 'संरक्षण' करना; या जॉर्जियाई लोगों की वंश-बैर जैसी 'राष्ट्रीय विशिष्टता' को विकसित करना...

"इस चरित्र की माँग का किसी सीधे-सीधे बुर्जुआ राष्ट्रवादी कार्यक्रम में ही स्थान हो सकता है।" (स्तालिन, वही, पृ. 279)

पूँजीवादी विकास नैसर्गिक गति से (जिसमें कि प्रवास का कारक भी शामिल है) राष्ट्रीयताओं के बीच की सांस्कृतिक और राष्ट्रीय विशिष्टताओं की दीवारों को गिराता है। मार्क्सवादी मानते हैं कि यह राष्ट्रीय संस्कृति के लिए घातक नहीं होता है, बल्कि सभी राष्ट्रीय संस्कृतियों को समृद्ध बनाता है। साथ ही, यह मज़दूरों की अन्तरराष्ट्रीयतावादी संस्कृति के निर्माण में भी एक कारक होता है, जो कहीं ऊपर से या बाहर से नहीं आती, बल्कि हर राष्ट्रीय संस्कृति में मौजूद प्रगतिशील तत्वों का एक वैज्ञानिक व ऐतिहासिक अमूर्तन और सामान्यीकरण ही होती है।

हमारे भाषाई व राष्ट्रीय अस्मितावादी विचलन के शिकार साथी लेनिन के एक उद्धरण को सन्दर्भों से काटकर यह साबित करना चाहते हैं कि मार्क्सवादियों व लेनिनवादियों को दमित राष्ट्रीयताओं के भीतर मौजूद राष्ट्रवाद का विरोध नहीं करना चाहिए। आइए इस पर भी अपना विचार साफ़ कर लेते हैं। इन्होंने एक उद्धरण 'प्रतिबद्ध' की फ़ेसबुक प्रोफ़ाइल से डाला है जिसमें लेनिन कहते हैं कि दमित क़ौमों के क़ौमवाद के हाथों में खेलने के डर से लोग दमनकारी राष्ट्रों के बुर्जुआ और प्रतिक्रियावादी राष्ट्रवाद के हाथों में खेलने लगते हैं। पहली बात तो यह कि लेनिन के इस उद्धरण को सन्दर्भों से काटकर पेश किया गया है, जिसे आगे हम पूरा पेश करेंगे ताकि सभी पाठकों को पता चल जाये कि यहाँ लेनिन क्या कह रहे हैं। दूसरी बात, हमारे अस्मितावादी विचलन के शिकार साथी यह नहीं बताते कि यह लेनिन किसके ख़िलाफ़ लिख रहे हैं? लेनिन यह उन लोगों के ख़िलाफ़ लिख रहे हैं जो कि राष्ट्रों के अलग होने समेत आत्मनिर्णय के अधिकार की मुख़ालफ़त कर रहे थे, जैसे कि सेमकोव्स्की। यहाँ लेनिन यह नहीं कह रहे हैं कि दमित क़ौमों के भीतर मौजूद बुर्जुआ क़ौमवाद के ख़िलाफ़ कम्युनिस्टों को नहीं लड़ना चाहिए, बल्कि केवल सेमकोव्स्की की इस दलील का खण्डन कर रहे हैं कि आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन करना ही दमित राष्ट्र के बुर्जुआ राष्ट्रवाद का समर्थन करना है, **लेकिन लेनिन यह भी कहते हैं कि दमित क़ौमों के आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन करते हुए भी उनके बीच मौजूद बुर्जुआ राष्ट्रवाद के ख़िलाफ़ हमें सतत् संघर्ष करना चाहिए और उसे बेनक़ाब करना चाहिए। अगर हमारे भाषाई और राष्ट्रीय अस्मितावाद के विचलन के शिकार साथी गूगल से कोट ढूँढ़ कर अपनी बात को सही साबित करने की बजाय लेनिन की वह पूरी रचना पढ़ते जिससे उन्होंने उद्धरण छापा है, तो उन्हें ख़ुद ही समझ आ जाता। हम आपके सामने यह पूरा उद्धरण पेश कर देते हैं, सन्दर्भ के साथ :**

"श्रीमान सेमोव्स्की हमें भरोसा दिलाते हैं कि आत्मनिर्णय के अधिकार को मान्यता देना 'बहुत ही कुशल क़िस्म के बुर्जुआ राष्ट्रवाद के हाथों में खेलना है।' *('प्रतिबद्ध' पत्रिका ने जानबूझकर उद्धरण का बस इतना ही हिस्सा पेश किया है क्योंकि इससे आगे लेनिन जो कहते हैं वह उनकी अवस्थिति का ही खण्डन करता है – सम्पादक)* **यह बचकाने क़िस्म की बकवास है क्योंकि इस अधिकार को मान्यता देने का यह अर्थ नहीं है कि अलगाव या बुर्जुआ राष्ट्रवाद के विरुद्ध प्रचार और उद्वेलन नहीं किया जायेगा। लेकिन यह विवादेतर है कि अलग होने के *अधिकार* से इन्कार करना सबसे कुशल क़िस्म के प्रतिक्रियावादी महारूसी राष्ट्रवाद के 'हाथों में खेलने' के समान होगा!**

"यही रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग की दिलचस्प ग़लती का सार है जिसकी वजह से लम्बे समय तक जर्मन और रूसी (अगस्त 1903) सामाजिक-जनवादियों द्वारा उनकी खिल्ली उड़ायी गयी; दमित राष्ट्रों के बुर्जुआ राष्ट्रवाद के हाथों में खेलने के डर से, लोग केवल बुर्जुआ नहीं बल्कि दमनकारी राष्ट्रों के प्रतिक्रियावादी राष्ट्रवाद के हाथों में खेल बैठते हैं।" *('प्रतिबद्ध' पत्रिका ने जानबूझकर उद्धरण का बस इतना ही हिस्सा पेश किया है क्योंकि इसके पिछले पैराग्राफ़ में लेनिन जो कहते हैं वह उनकी अवस्थिति का ही खण्डन करता है। – सम्पादक)* (Lenin, 1977, 'The National Program of the RSDLP', Collected Works, Progress Publishers, Moscow)

या तो हमारे भाषाई व राष्ट्रीय अस्मितावादी विचलन के शिकार दोस्त ठीक से पढ़ते नहीं हैं, या यदि वे ठीक से पढ़ते हैं, तो उन्होंने लेनिन को जानबूझकर मिसरिप्रज़ेण्ट किया है, जो कि अपने आप में एक बौद्धिक बेईमानी का काम है। **जो भी है, इतना स्पष्ट है कि लेनिन दमित क़ौमों के बीच मौजूद बुर्जुआ राष्ट्रवाद के भी उतने ही विरोधी थे, जितने कि वे किसी भी प्रकार के बुर्जुआ राष्ट्रवाद के। दूसरी बात, लेनिन राष्ट्रवाद की हिमायत नहीं करते हैं बल्कि राष्ट्रीय मुक्ति के संघर्ष की हिमायत करते हैं। राष्ट्रवाद बुर्जुआ विचारधारा ही होती है।** लेनिन दमित राष्ट्रीयताओं की राष्ट्रीय बुर्जुआज़ी को भी एक बाशर्त समर्थन देने की वकालत करते हैं, जिस हद तक उसकी राजनीतिक अन्तर्वस्तु जनवादी (यानी कि साम्राज्यवाद-विरोधी, औपनिवेशीकरण-विरोधी और सामन्तवाद-विरोधी) होती है। लेनिन इस बात को निम्न उद्धरण में स्पष्ट कर देते हैं :

"इसलिए यह बुर्जुआ वर्ग की *व्यावहारिकता के ख़िलाफ़ जाता है* कि सर्वहारा वर्ग राष्ट्रीय प्रश्न पर अपने *सिद्धान्तों* को विकसित करें; वे हमेशा बुर्जुआ वर्ग को *केवल बाशर्त* समर्थन देते हैं...

"*जिस हद तक* दमित राष्ट्र का बुर्जुआ वर्ग दमन करने वाले के विरुद्ध संघर्ष करता है, हम हमेशा, और हर मामले में, किसी से भी ज़्यादा मज़बूती से, *इसके समर्थन में होते हैं*, क्योंकि हम दमन के सबसे तीव्र और सबसे निरन्तरतापूर्ण शत्रु हैं। लेकिन जिस हद तक दमित राष्ट्र का पूँजीपति वर्ग *स्वयं अपने* बुर्जुआ राष्ट्रवाद के लिए खड़ा होता है, हम उसके विरोध में होते हैं...

"*किसी भी* दमित राष्ट्र के बुर्जुआ राष्ट्रवाद में एक सामान्य जनवादी अन्तर्वस्तु होती है जो दमन के *ख़िलाफ़* निर्देशित होती है, और इस अन्तर्वस्तु का हम *बिना शर्त*, समर्थन करते हैं। लेकिन साथ ही हम इसे राष्ट्रीय विशिष्टता/बहिष्करण की प्रवृत्ति से अलग करते हैं; हम पोलिश बुर्जुआ वर्ग की यहूदियों को दबाने की प्रवृत्ति के विरुद्ध संघर्ष करते हैं, आदि, आदि।" (Lenin, 1977, 'The Right of Nations to Self-Determination', Selected Works, Volume-1, Progress Publishers, Moscow)

लेनिन ने यहाँ अपनी अवस्थिति सन्देह से परे कर दी है। हम दमित क़ौमों के राष्ट्रवाद के समर्थक नहीं हैं, बल्कि उनके राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के समर्थक हैं और जिस हद तक बुर्जुआ राष्ट्रवादी इस संघर्ष में साथ होते हैं, हम उन्हें साथ लेते हैं और इससे परे क़तई नहीं। उनकी राष्ट्रवादी विचारधारा से हमारा कोई मेल नहीं है, बल्कि दमन के विरुद्ध संघर्ष में उनके साथ बाशर्त मोर्चा हो सकता है। आख़िरी पैराग्राफ़ में लेनिन ने यह भी बताया है कि यदि कोई राष्ट्रीयता दमित है तो उसकी बुर्जुआज़ी के राष्ट्रवाद में निरपवाद रूप से एक सामान्य जनवादी अन्तर्वस्तु भी होगी, जिसका हम समर्थन करते हैं। यह भी बताता है कि यदि कोई राष्ट्रीयता वाक़ई दमित है, तो महज़ उसके मेहनतकश अवाम का ही दमन नहीं होता है, बल्कि उसके पूँजीपति वर्ग का भी दमन होता है। अब यदि पंजाबी राष्ट्रीयता दमित राष्ट्रीयता है तो 'ललकार' के साथियों को बताना पड़ेगा कि पंजाबी पूँजीपति वर्ग का कौन-सा हिस्सा प्रगतिशील है जिसके राष्ट्रवाद में (नकारात्मक तत्वों के अलावा) एक सामान्य जनवादी अन्तर्वस्तु भी है, जिसका हमें समर्थन करना चाहिए और पंजाब के राष्ट्रीय दमन के ख़िलाफ़ राष्ट्रीय मुक्ति की लड़ाई में उसके साथ मोर्चा बनाना चाहिए! सिर्फ़ इसी पैमाने पर परखने से 'ललकार' के साथियों की विचलनग्रस्त और हास्यास्पद अवस्थिति ज़ाहिर हो जाती है।

माओ के विचार भी इस मामले में देखना उपयोगी होगा। माओ का निम्न उद्धरण स्पष्ट कर देता है कि हम मार्क्सवादी हर प्रकार के राष्ट्रवाद का विचारधारात्मक तौर पर विरोध करते हैं। माओ लिखते हैं :

"इस प्रश्न को हल करने की कुंजी है हान अन्धराष्ट्रवाद को दूर करना। **साथ ही जहाँ कहीं अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताओं में स्थानीय-राष्ट्रीय अन्धराष्ट्रवाद (local-nationality chauvinism) मौजूद हो, वहाँ उसे दूर करने के प्रयास भी किये जाने चाहिए। विभिन्न जातियों की एकता के लिए हान अन्धराष्ट्रवाद और स्थानीय-राष्ट्रीय अन्धराष्ट्रवाद, दोनों ही हानिकर होते हैं। यह जनता के बीच का एक अन्तरविरोध है जिसे हल किया जाना चाहिए।**" (माओ, 'जनता के बीच के अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करने के बारे में')

भाषाई और राष्ट्रीय अस्मितावादी विचलन के शिकार हमारे 'ललकार' व 'प्रतिबद्ध' के साथियों ने हम पर आरोप लगाया है कि हम उनके भाषाई व राष्ट्रीय अस्मितावादी विचलन की आलोचना करके आरएसएस के घोर प्रतिक्रियावादी राष्ट्रवाद के पक्ष में खड़े हैं। ऐसे हास्यास्पद आरोप का तो जवाब देना भी बेकार है। उन्हें दिखलाना चाहिए कि ऐसा किस प्रकार है। लेकिन जब वे हमारे द्वारा उठाये गये किसी भी ठोस प्रश्न और आलोचना का जवाब देने की बजाय, बस उन साथियों के बीच हमें दमित राष्ट्रीयताओं के संघर्ष के विरोधी और आरएसएस के प्रतिक्रियावादी राष्ट्रवाद का हिमायती क़रार देने पर तुले हैं, जिन्हें वे अपनी अवस्थिति पर सहमत करना चाहते हैं, तो फिर इस बात की उम्मीद भी कम ही है कि वे हमारी ठोस आलोचना का कोई ठोस जवाब देंगे। वे बस इन साथियों में क़ौमी जज़्बात को उभाड़कर अपना बचाव करने का प्रयास कर रहे हैं, जिसके लिए महान शिक्षकों को सन्दर्भों से काटकर पेश करने से लेकर तथ्यात्मक त्रुटियाँ करने तक हर तरकीब अपना रहे हैं। हम सभी संजीदा साथियों से यही अपील करेंगे कि इस पूरी बहस में दोनों पक्षों की अवस्थितियों को ग़ौर से पढ़ें और मार्क्सवादी क्लासिक्स को भी पढ़ें और फिर निर्णय करें।

●

(इसके आगे 16 सितम्बर से हमने जो आलोचनात्मक निबन्ध और टिप्पणियाँ पेश की हैं, उनमें से चुनिन्दा को कालानुक्रम से रखा गया है – सम्पादक)

‘महापंजाब’ का आइडिया और राष्ट्रीय प्रश्न पर मार्क्सवादी अवस्थिति : आरज़ी तौर पर विचारार्थ कुछ बातें

(16 सितम्बर 2019, ‘आह्वान’ के फ़ेसबुक पेज की पोस्ट जो कि ‘ललकार’ के फ़ेसबुक पेज द्वारा महापंजाब के रूमानी यूटोपिया को लेकर रुदन करने वाली वीडियो को शेयर करने की आलोचना के रूप में डाली गयी थी – सम्पादक)

पंजाब में खालिस्तानी पृथकतावाद की लहर को पीछे छूटे हुए एक लम्बा अर्सा बीत चुका है। उस समय खालिस्तानियों को पंजाबी राष्ट्रीय बुर्जुआ का प्रतिनिधि मानकर समर्थन करने वाली एक छोटी-सी क्रान्तिकारी वाम धारा भी थी जिसे विलुप्त होना ही था और वह हो चुकी है। यह बात अजीब नहीं लगती कि अभी भी यहाँ-वहाँ से बीच-बीच में खालिस्तानी पृथकतावाद जैसी आवाज़ें सुनाई पड़ जाती हैं। अजीब बात यह है कि क्रान्तिकारी वाम धारा में भी कभी-कभार पंजाबी ‘बिगनेशन शॉविनिज़्म’ का हैंगओवर अभी भी सिर उठाता रहता है। जैसे अचानक बीच-बीच में यहाँ-वहाँ से कुछ ऐसी आहें और कराहें सुनाई देने लगती हैं कि पिछले 70 वर्षों के दौरान हमारा “गौरवशाली महापंजाब” कितने टुकड़ों में बँट गया और अब हम कितने छोटे से पंजाब में गुज़ारा करने के लिए मजबूर कर दिये गये हैं।

पहली बात 1947 में पंजाब का जो विभाजन हुआ वह देश विभाजन की पूरी राजनीति का एक पार्ट था। और हम पूरे भारतीय उपमहाद्वीप के इतिहास के उस दौर में भारतीय बुर्जुआ वर्ग और उपनिवेशवादियों के बीच हुई दुरभिसन्धि के सारे परिणामों को अलग से पलट नहीं सकते और इस सवाल को महज़ पंजाबी राष्ट्र के साथ हुए अन्याय के रूप में अलग-थलग करके देखना भी एक अनैतिहासिक नज़रिया होगा। भारत में भाषाई आधार पर राज्यों का जो गठन था वह अलग-अलग राष्ट्रों एवं राष्ट्रीयताओं की आकांक्षाओं को शान्त करने की एक अधूरी और विरूपित कोशिश थी। दरअसल, भारत सच्चे अर्थों में एक संघात्मक राज्य होने की जगह अन्तरवस्तु की दृष्टि से एक एकात्मक राज्य ही है। लेकिन यह एक सर्वथा दीगर सवाल है। मूल प्रश्न यह है कि क्या आज इतिहास के चक्के को उल्टा घुमाकर हरियाणा और हिमाचल प्रदेश को पंजाब में मिलाकर फिर से एक महापंजाब बनाये जाने की आकांक्षा इस पूरे इलाक़े की (न सिर्फ़ हरियाणा और हिमाचल की बल्कि पंजाब की भी) व्यापक मेहनतकश आबादी की कोई आकांक्षा और माँग है? क्या हरियाणा और हिमाचल की व्यापक जनता की पंजाबीभाषी जनता से अलग कोई पहचान बनती है या नहीं? क्या यह सच नहीं है कि हरियाणा और हिमाचल की हिन्दीभाषी जनता कई उपराष्ट्रीयताओं, जातीय उपराष्ट्रीयताओं और भाषाई अल्पसंख्यक समुदायों का समुच्चय है? क्या इन दो राज्यों की बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी कथित रूप से प्रस्तावित महापंजाब में शामिल होने की भावना या आकांक्षा रखती है? सबसे बड़ा सवाल तो यह बनता है कि अगर पंजाब की (और हमें ध्यान रखना होगा कि पंजाब में कार्यरत मेहनतकश आबादी का बड़ा हिस्सा ग़ैर-पंजाबी है चाहे वह खेतों की बात हो या कारख़ानों की) व्यापक मेहनतकश आबादी के बहुलांश की आज यह कोई माँग या आकांक्षा ही नहीं है तो इस मुद्दे को उठाना गड़े मुर्दे को उखाड़ना नहीं है? इतिहास के पन्ने पलटकर देखिए, अतीत में तो यूरोप के बहुतेरे राष्ट्रों और राष्ट्रीयताओं के साथ भी कई भीषण अन्याय हुए थे, (पंजाब के साथ ऐसी कोई बात नहीं है) तो क्या अतीत में पीछे जाकर उन ऐतिहासिक ग़लतियों को ठीक किया जा सकता है? यह तो मार्क्सवादी समझ का एक प्रहसन है।

संक्षेप में, यहाँ पर हम राष्ट्रों और राष्ट्रीयताओं के प्रश्न पर मार्क्सवादी अवस्थिति के कुछ कुंजीभूत बिन्दुओं को भी अति-संक्षेप में रख दे रहे हैं। लेनिन ने स्तालिन द्वारा राष्ट्रीय प्रश्न पर लिखी रचना को पूर्ण अनुमोदन दिया था और कहा था कि “इस शानदार जॉर्जियाई” द्वारा लिखित पुस्तिका को सभी के द्वारा पढ़ा जाना चाहिए। स्तालिन ने इस रचना में ‘राष्ट्र’ को इन शब्दों में परिभाषित किया है : “एक राष्ट्र एक साझा संस्कृति में अभिव्यक्त होने वाली साझा भाषा, साझे परिक्षेत्र, साझे आर्थिक जीवन और साझी मनोवैज्ञानिक बनावट के आधार पर ऐतिहासिक रूप से संघटित होने वाला जनता का एक स्थायी समुदाय है।

“कहने की आवश्यकता नहीं है कि हर ऐतिहासिक परिघटना के समान राष्ट्र भी परिवर्तन के नियमों के

अधीन है, इसका एक इतिहास होता है, इसका एक आरम्भ और अन्त होता है।

"इस बात पर बल दिया जाना अनिवार्य है कि उपरोक्त में से किसी एक चारित्रिक अभिलाक्षणिकता के ज़रिये राष्ट्र को परिभाषित नहीं किया जा सकता। इसके अलावा अगर उपरोक्त में से एक भी चारित्रिक अभिलाक्षणिकता न हो तो राष्ट्र राष्ट्र नहीं रह जाता...

"जब ये सारी अभिलाक्षणिकताएँ एक साथ मौजूद हों तभी हम कह सकते हैं कि हमारे समक्ष एक राष्ट्र है।" ('मार्क्सवाद और राष्ट्रीय प्रश्न', जे.वी. स्तालिन)

इसी रचना में स्तालिन यह भी स्पष्ट करते हैं कि दमित राष्ट्रीयता का प्रश्न अविभाज्य रूप से भूमि प्रश्न और औपनिवेशिक प्रश्न से जुड़ा हुआ है। कोई राष्ट्र दमित है या नहीं यह सिर्फ़ इस बात से तय नहीं होता कि सांस्कृतिक या भाषाई तौर पर वह पीछे छूट गया या उसके साथ भाषाई अन्याय हो रहा है क्योंकि ऐसा कई अन्य ऐतिहासिक परिस्थितियों में भी हो सकता है और होता रहा है। मिसाल के तौर पर, पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में आर्थिक समेकन के कारण, आर्थिक आदान-प्रदान और श्रम और पूँजी की आवाजाही के कारण विशिष्ट ढाँचागत और ऐतिहासिक सन्दर्भ में कोई एक भाषा स्वतः ही सामाजिक अन्तर्क्रिया का चुना हुआ माध्यम बन जाती है। इसके लिए किसी राज्यसत्ता द्वारा किसी भाषा को थोपे जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। निश्चित तौर पर, राज्यसत्ता द्वारा किसी भाषा को किसी राष्ट्रीयता पर थोपे जाने का पुरज़ोर विरोध किया जाना चाहिए और शिक्षण-प्रशिक्षण व अन्य अन्तर्क्रियाओं के माध्यम के तौर पर मातृभाषा के प्रयोग के अधिकार के लिए हरसम्भव रूप में लड़ा जाना चाहिए। लेकिन लेनिन ने यह भी बताया है कि यदि कोई भाषा आर्थिक विकास की नैसर्गिक प्रक्रिया में स्वतः ही, राज्यसत्ता के दबाव के बिना ही, चुनी हुई सम्पर्क भाषा बन जाये तो इस गति का विरोध करना भी व्यर्थ और अनैतिहासिक है। इसलिए जैसा कि स्तालिन ने कहा, उपरोक्त पाँचों अभिलाक्षणिकताओं की मौजूदगी के आधार पर ही किसी समुदाय को राष्ट्र का दर्जा दिया जा सकता है और असमाधित भूमि प्रश्न और औपनिवेशिक दमन के आधार पर ही किसी दमित राष्ट्रीयता की सही-सही पहचान की जा सकती है, हालाँकि यह भूमि आधारित व औपनिवेशिक दमन अपने आपको अन्य रूपों को भी अभिव्यक्त करता ही है। क्या इन पैमानों पर महापंजाब का आइडिया एक प्रतिगामी क़िस्म की रूमानियत नहीं है?

यदि इन पैमानों पर राष्ट्रीय दमन मौजूद है और विभाजन उस राष्ट्रीय दमन का परिणाम है तो बेशक किसी महापंजाब के विचार पर सोचा जा सकता है। स्तालिन ने उपरोक्त रचना में ही उदाहरण दिया है कि जॉर्जिया में रूस विरोधी भावना की बजाय आर्मेनिया विरोधी भावना मौजूद है क्योंकि जॉर्जिया में भूस्वामी वर्ग आर्मेनियाई है। क्या इसी रूप में पंजाब के राष्ट्रीय दमन की कल्पना की जा सकती है? इन पैमानों पर विश्लेषण करें तो उल्टे ही नतीजे सामने आयेंगे! यही बात हिमाचल, हरियाणा, दिल्ली और यहाँ तक कि उत्तराखण्ड और उत्तरप्रदेश के तराई क्षेत्र में भूस्वामित्व और व्यापार में पंजाबी वर्चस्व के बारे में भी कही जा सकती है। स्तालिन उपरोक्त पुस्तिका में यह भी स्पष्ट करते हैं कि ऐसे राष्ट्रीय दमन की अनुपस्थिति में राष्ट्रीय आन्दोलन केवल बुर्जुआ वर्ग की आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व कर सकता है। तो प्रश्न यह उठता है कि क्या किसी महापंजाब की माँग की पंजाब, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश के सर्वहारा वर्ग, ग़रीब किसान वर्ग और आम मेहनतकश आबादी के बीच कोई अनुगूँज है? और यदि नहीं है तो क्या यह मसला सर्वहारा वर्ग और आम मेहनतकश आबादी की वर्ग एकजुटता को तोड़ेगा नहीं?

इन पैमानों के आधार पर महापंजाब के आइडिया पर पुनर्विचार किया जाना चाहिए। हम समझते हैं कि बेहद ज़रूरी है कि कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी राष्ट्रीय प्रश्न पर मार्क्सवादी-लेनिनवादी लेखन का गहराई से अध्ययन करें और पंजाब के सन्दर्भ में किसी भी प्रकार के राष्ट्रीय प्रतिगामी नॉस्टैल्जिया से मुक्त हों। भारत के मेहनतकश और भारत के क्रान्तिकारी वाम आन्दोलन जिन जलते हुए सवालों के रूबरू आज खड़े हैं उन्हें देखते हुए हमें तो यह नितान्त अवान्तर प्रसंग लगता है। इस प्रश्न पर और गहन सैद्धान्तिक अध्ययन और पंजाब, हिमाचल, हरियाणा की ठोस परिस्थितियों और इतिहास के अध्ययन के आधार पर हम विस्तार से फिर अपनी बातें रखेंगे।

इन्दरजीत
रमेश खटकड़
अजय स्वामी

●

हरियाणा में पंजाबी भाषा के प्रश्न पर कतिपय कॉमरेडों के अज्ञान पर संक्षिप्त चर्चा

● अरविन्द

हाल ही में एक चीज़ से सामना हुआ है। कुछ लोग इसे हरियाणा में रहने वाले एक पंजाबीभाषी व्यक्ति के दिल की कराह कह सकते हैं, लेकिन वास्तव में यह तथ्यहीन बातों, अतार्किक भावनाओं और अज्ञान पर आधारित नॉस्टैल्जिक झुकावों के पुलिन्दे से ज़्यादा कुछ नहीं है। राष्ट्रवाद की मरी हुई लाश को ढोने के प्रयास में कुछ लोग अनर्गल प्रलाप की सारी सीमाओं को लाँघने में लगे हैं। 'महापंजाबियत' के नॉस्टेल्जिया में अटके कुछ लोग मनमाफ़िक़ बातों से ज्ञानचक्षुओं को चकाचौंध करने का कार्यभार अपने कन्धों पर उठाये हुए हैं। कोई रूढ़िवादी ऐसा करे तो समझ में आता है किन्तु यदि कोई कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी इस तरह से 'अक़्ल के पाछै लट्ठ लेकै पड़ जायें' तो कहें किससे और सुनें किसकी?

ये कतिपय कॉमरेड कभी तो कहते हैं कि हरियाणा तो पंजाब ही है, कभी कहते हैं कि हरियाणा में तो बहुतायत में पंजाबी भाषा ही बोली-समझी जाती है और कभी कहते हैं कि हरियाणवी बोलियाँ हिन्दी की बोलियाँ नहीं हैं बल्कि पंजाबी की ही बोलियाँ हैं। ये कतिपय कॉमरेड अब अपनी तथ्यहीन कल्पनाओं में यहाँ तक पहुँच गये हैं कि हरियाणा में पंजाबी लोगों के ख़िलाफ़ षड्यंत्र रचे जा रहे हैं, कि बेचारे पंजाबियों को इतना डरा-धमका कर रखा जाता है कि वे यह तक नहीं बता पाते कि उनकी माँ-बोली पंजाबी है! इनका यह भी कहना है कि यहाँ रहने वाली 30 प्रतिशत (यह इनकी निजी गणना है, इसके लिए कोई ठोस आँकड़े नहीं प्रदान किये गये हैं!) पंजाबी आबादी हर जगह अपना क्रिया-व्यापार वैसे तो पंजाबी में करती है, पंजाबी गानों पर नाचती है (!) किन्तु जब कोई सर्वे करने आता है तो अपनी मातृभाषा को छिपाकर थोपी हुई हिन्दी भाषा का नाम ले देती है! इस पर कहें भी तो क्या कहें?

इस तरह के निष्कर्ष राष्ट्रवादी विचलन का शिकार कोई कम्युनिस्ट ही निकाल सकता है, जो तथ्यों और तर्कों के आधार पर बात करने की तार्किक विमर्श की बुनियादी शर्तों को तिलांजलि दे चुका हो। असल में हरियाणा में तो पिछले पाँच साल से न केवल मुख्यमंत्री पंजाबी समुदाय से था बल्कि उसकी कैबिनेट में कई मंत्री तक इसी समुदाय से थे। हरियाणवी राजनीति और अर्थतंत्र में ऊपर से नीचे तक पैठ करने वाले पंजाबी व्यापारी व फ़ार्मर वर्ग के लोग भला किसी अदना से सर्वे करने वाले के सामने अपनी भाषा क्यों छिपायेंगे? आम पंजाबीभाषी लोग भी ऐसा नहीं करेंगे। हरियाणवी राजनीति के इतिहास में एक समय तो ऐसा था जब 30 विधायक पंजाबी समुदाय से थे जिनमें 11 मंत्री भी थे।

हरियाणा के भीतर पंजाबीभाषी आबादी के वास्तविक आँकड़ों पर हम आगे आयेंगे लेकिन इन लोगों के "तर्कों" के अनुसार पंजाबी गानों पर नाचना भी पंजाबी होने का एक पैमाना है! यदि कोई पंजाबी गाने पर नाच लेता है तो क्या इसे उसके पंजाबी होने के आधारों में से एक माना जा सकता है? इस तर्क पर चलें तो निष्कर्ष भयंकर निकल सकते हैं। आज सपना चौधरी के ठुमकों के साथ फूहड़ हरियाणवी गानों को कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक किसी-न-किसी को देखते-सुनते हुए पाया जा सकता है, तो इसका मतलब सब हरियाणवी तो नहीं हो गये! बाज़ारू पंजाबी गाने तो पूरे देश में शादियों में, पार्टियों में, जिमों में बजते रहते हैं। लोग उस पर नाचते पाये जा सकते हैं! लेकिन इससे उनकी भाषाई और राष्ट्रीय पहचान नहीं निर्धारित होती है।

कोई भाषा-समुदाय और यहाँ तक कि राष्ट्रीयता भी हर वस्तु की तरह गतिमान अवस्था में होते हैं। वस्तुएँ स्थिर और गतिहीन केवल और केवल कूपमण्डूकों के दिमाग़ में होती हैं। जिसकी अक़्ल के बारह बाट हो गये हों आज वही हरियाणा ही नहीं बल्कि भारत में भी पंजाबियों की शासन-सत्ता में हिस्सेदारी को नकार सकता है। वोट बैंक के व्यापारी यदि गाहे-बगाहे किसी समुदाय-विशेष को निशाना बनाते हैं – जो कि निश्चय ही ग़लत है – तो इसका यह मतलब तो नहीं होता कि उक्त समुदाय को आम तौर पर दबाकर रखा जा रहा है या वह दमित समुदाय/राष्ट्रीयता/अस्मिता है। इतिहास में पहले भी ऐसा हुआ है कि किसी आर्थिक रूप से शक्तिशाली मगर धार्मिक अल्पसंख्यक समुदाय को सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक संकट हावी होने पर शासक वर्गों ने निशाना बनाया हो, या वे निशाना बने हों। जब भी वर्ग अन्तरविरोध सही राजनीतिक अभिव्यक्ति नहीं पाते हैं, तो वे धार्मिक, नस्ली, जातिगत तौर पर ग़लत अभिव्यक्ति पाते हैं यानी मिसआर्टिक्युलेट होते हैं। हालाँकि यह मिसाल हमारे देश पर पूरी तरह लागू नहीं होती लेकिन फिर भी हमारे तर्क को समझने के लिए महत्वपूर्ण है : अमेरिका में यहूदियों को कई बार एण्टीसेमिटिज़्म के कारण निशाना बनाया जाता है, लेकिन फिर भी आर्थिक और राजनीतिक तौर पर वे वर्चस्वकारी स्थिति में हैं। अमेरिका के शासक वर्ग में उनकी अच्छी हिस्सेदारी है। **कहने की आवश्यकता नहीं है कि आज की शोषणकारी व्यवस्था में किसी भी समुदाय के ग़रीब तो हर जगह दमित और शोषित हैं ही। शासक वर्ग भाषा-क्षेत्र-**

जाति-धर्म के आधार पर जनता को लड़ाता ही है लेकिन जब क्रान्तिकारी ही राष्ट्रवादी विचलन या बिग नेशन शॉविनिज़्म, इतिहास के प्रति किसी तथ्यहीन नॉस्टेल्जिया और भाषाई शुद्धतावाद के शिकार होकर लोगों के बीच कृत्रिम दीवारें खड़ी करने लग जायें तो यह दुखदायी ही होगा।

हम यह बात बचपन से ही रटते आये हैं कि भारत एक कृषि-प्रधान देश है किन्तु भारत को विडम्बना-प्रधान देश कहा जाना चाहिए। इन विडम्बनाओं की भी अपनी एक श्रृंखला और तार्किकता है। आप परिघटनाओं की पूरी लड़ी में से एक कड़ी को पकड़कर उसका खूँटा गाड़कर उसके गिर्द ता-ता-थैया करेंगे तो कूपमण्डूक ही कहलायेंगे भले ही आपका प्रयोजन कूपमण्डूक कहलवाने का न भी रहा हो। कतिपय कॉमरेड लोग भी ऐसा ही कर रहे हैं। चीज़ों को समझने के लिए उन्हें सम्पूर्णता में देखा जाना चाहिए वरना कभी आपके हाथ में सींग आयेगा, कभी पूँछ और कभी आपको दुलत्ती भी नसीब हो सकती है। भारत की औपनिवेशिक ग़ुलामी, अंग्रेज़ों द्वारा पोषित साम्प्रदायिक राजनीति और धार्मिक आधार पर विभाजन इन सभी को आप अलग-अलग नहीं बल्कि एक श्रृंखला में ही समझ सकते हैं। भाषाई आधार पर हुए राज्य विभाजन में भी शासक वर्ग अपने हितों की पूर्ति की गुंजाइश तलाशता ही है लेकिन यह एक अलग मसला है और इस पर आगे आयेंगे। अधकचरी समझदारी न केवल कट्टरता के सीमान्तों को छू सकती है बल्कि इन कतिपय कॉमरेडों को राष्ट्रवादी विचलन और बिग नेशन शॉविनिज़्म के पंककुण्ड में भी धकेल सकती है।

कोई भी पहचान या अस्मिता चाहे वह भाषाई हो, क्षेत्रीय हो, जातीय हो, धार्मिक हो या फिर राष्ट्रीय ही क्यों न हो, न तो फूलकर कुप्पा होने की चीज़ होती है और न ही शर्मिन्दगी से मुँह छुपा लेने की चीज़ होती है। ये पहचानें व्यक्ति को पूर्व प्रदत्त होती हैं। मार्क्सवाद का मानना है कि ये अपने आप में अन्तरविरोध का स्रोत या स्थल नहीं होतीं। ये वर्ग अन्तरविरोधों की ग़लत समझदारी या मिसआर्टिक्युलेशन के कारण अन्तरविरोध का स्रोत बन जाती हैं। जहाँ तक राजनीतिक वर्ग पक्ष का प्रश्न है तो व्यक्ति विभिन्न सामाजिक, ऐतिहासिक और व्यक्तिगत सन्दर्भों के आधार पर अपना वर्गीय पक्ष चुनता है। सन्तुलित नज़रिये और कट्टरता के बीच की सीमा रेखा इतनी भी महीन नहीं होती कि वह नज़र ही न आये। हमारे लिए हरियाणवी, पंजाबी या कोई भी क्षेत्रीय या भाषाई पहचान न तो महिमामण्डन की चीज़ होनी चाहिए तथा न ही हमारे द्वारा अतार्किक होकर अन्य पहचानों-अस्मिताओं को नकारने का प्रयास होना चाहिए। लेकिन लगता है कतिपय कॉमरेड लोग महापंजाबियत के काल्पनिक नॉस्टैल्जिया (इसके कई संस्करण हो सकते हैं, जैसे कि 1947 के पहले के पंजाब को वापस हासिल करना, 1966 के पहले के पंजाब को हासिल करना, या 1966 के पुनर्गठन की जगह नये भाषाई पुनर्गठन का ऐसा फ़ार्मूला सुझाना जिससे कुछ और ज़िले पंजाब में जुड़ जायें) और बिग नेशन शॉविनिज़्म की ख़ुमारी के पर्दे की वजह से साफ़ दिखाई दे रहे यथार्थ को देख ही नहीं पा रहे हैं।

अब इन कतिपय कॉमरेडों के "तथ्यों" और वास्तविक तथ्यों पर आते हैं।

हरियाणा में पंजाबीभाषी आबादी : कुछ तथ्य

हमारे कतिपय कॉमरेड कुछ "माहिर लोगों" के हवाले से हरियाणा की कुल आबादी में पंजाबी भाषियों की संख्या 30 प्रतिशत बता रहे हैं। नेशनल कमिश्न फ़ॉर लिंग्विस्टिक माइन्योरटीज़ (NCLM) के 2008 के एक पत्रक के अनुसार हरियाणा में बहुसंख्यक हिन्दी भाषी हैं जो कुल आबादी का 91 प्रतिशत हैं। इसी पत्रक के अनुसार पहले भाषाई अल्पसंख्यक पंजाबी हैं जो कुल आबादी का 7.11 प्रतिशत हैं तथा दूसरे भाषाई अल्पसंख्यक उर्दू भाषी हैं जो कुल आबादी का 1.99 प्रतिशत हैं (सन्दर्भ – Minority Languages in India - Thomas Benefited, March 2013, तालिका - 10, पृष्ठ संख्या - 36)। इकोनॉमिक एण्ड स्टेटिस्टिकल एनालिसिस डिपार्टमेण्ट के अनुसार हरियाणा में 87.31 प्रतिशत आबादी हिन्दी भाषी है जबकि 10.57 प्रतिशत आबादी पंजाबी भाषी, 1.23 प्रतिशत आबादी उर्दू भाषी और 0.89 प्रतिशत आबादी अन्य भाषाभाषी है (सन्दर्भ लिंक – http://esaharyana.gov.in/Data/StateStatistical Abstract/StatisticalAbstract(2013-14).pdf?fbclid=IwAR2nN-RJKa8D7NiJUoSTmBJomK_z3WW0sDvEhtpztmklEpQsAYVJulKM2l4)। हरियाणा के सिरसा ज़िले में पंजाबी भाषी आबादी बाक़ी सभी ज़िलों से अधिक है जिसका प्रतिशत 65.94 प्रतिशत है (सन्दर्भ – उपरोक्त)। **लेकिन मूल बात यह है कि क्या दोनों ही राज्यों की जनता की यह जनमाँग है कि भाषाई आधार पर राज्यों का पुनर्गठन हो?** लेकिन पता नहीं क्यों कुछ "माहिर लोगों" के हवाले से इन कतिपय कॉमरेडों ने मनमाफ़िक़ आँकड़ों की झड़ी लगा दी है, जैसे कि उनके अनुसार सिरसा में 75 प्रतिशत पंजाबीभाषी हैं! न तो वे प्रस्तुत आँकड़ों का कोई सन्दर्भ देते हैं, न ही सरकारी और ग़ैर-सरकारी आँकड़ों को मान्यता देते हैं तथा न ही सिरसा के पूरे ज़िले के पैमाने पर अपने द्वारा जुटाये गये आँकड़ों या नमूना सर्वेक्षण की ही प्रस्तुति कर रहे हैं। इस पर हम करें तो क्या करें कबीरा कही न जाये! **लेकिन हमारा मूल तर्क यह है ही नहीं। इस तर्क से तो बहुत से ज़िलों या क्षेत्रों या गाँवों के राज्यों में विभाजन पर बहस हो सकती है, जैसे कि अबोहर और फाजिल्का के 83 हिन्दीभाषी गाँव। लेकिन यह न तो वहाँ की जनता की कोई माँग है और न ही यह हरियाणा के किसी क्षेत्र की जनता की माँग है कि राज्यों का पुनर्गठन किया जाये।**

वैसे तो भाषाई कट्टरता का कीड़ा पैदा किया जाये तो पैदा हो भी सकता है, लेकिन आज के दौर में यह कोई जीवन्त मसला ही नहीं है। यह एक अलग बात है कि सिरसा समेत हर राज्य के हर ज़िले में जनता के विभिन्न हिस्सों को अपनी मातृभाषा में पढ़ने के विकल्प उपलब्ध होने चाहिए, चाहे व पंजाबीभाषी हो, हिन्दीभाषी हो या कोई और भाषा बोलने वाला।

यह सच है कि सरकारी आँकड़ों को हम हमेशा आलोचनात्मक निगाह से देखते हैं। विशेष तौर पर लेबर इकनॉमिक्स के आँकड़ों को कम्युनिस्ट हमेशा ही सन्देह से देखते हैं, क्योंकि इनका मक़सद होता है व्यापक मेहनतकश जनता के जीवन के हालात को छिपाना या उनकी एक ग़लत तस्वीर पेश करना, हालाँकि उसकी भी एकदम हवाई और काल्पनिक तस्वीर पेश करना मुश्किल होता है क्योंकि शासक वर्ग ख़ुद भी इन आँकड़ों का जरूरतमन्द होता है। लेकिन अन्य सामाजिक, सांस्कृतिक, भाषाई व अन्य नृजातीय आँकड़ों की आवश्यकता राज्यसत्ता को शासक वर्ग हेतु नीति-निर्माण के लिए होती है और इन आँकड़ों में सटीकता के अभाव के बावजूद (वैसे कोई भी आँकड़े पूरी तरह सटीक नहीं हो सकते हैं!) इनमें ऐसा फ़र्क़ भी नहीं हो सकता है कि 10 प्रतिशत का 30 या 40 प्रतिशत बन जाये। लेकिन हमारे कतिपय कॉमरेडों का ज़ोर सिर्फ़ एक बात पर है कि पंजाबी भाषियों के ख़िलाफ़ आर्य समाज, आरएसएस व हरियाणा के तीनों लाल षड्यंत्ररत रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मनोहर लाल खट्टर को ये पंजाबी होने के चलते छूट देते हुए चल रहे हैं! 2016 में जाट आरक्षण आन्दोलन के समय निश्चय ही पंजाबियों को निशाना बनाया गया किन्तु उसका कारण शासक वर्ग की चालबाज़ियाँ और बँटवारे की राजनीति है। सच तो यह है कि ग़ैर-जाट आबादी को आम तौर पर निशाना बनाया गया था। शासक वर्ग यही तो करता है। यानी जनता के सामने झूठे दुश्मन खड़े करना, फूट डालना और राज करना और बहुसंख्यवाद की लहर में व्यापक मेहनतकश अवाम को बहा देना। क्या इस साधारण-सी बात को समझने के लिए किसी आकाशवाणी की दरकार है? क्या हरियाणा के शासक वर्ग में केवल किसी एक समुदाय या क्षेत्र विशेष से ताल्लुक रखने वाले लोग हैं? क्या शासक वर्ग में तमाम जातियों के धन्नासेठ और पैसेवाले नहीं हैं? ज़ाहिर है कि जो समुदाय आबादी में भी सबसे बड़ा होता है, आम तौर पर (हमेशा नहीं) शासक वर्ग में भी उसकी हिस्सेदारी अन्य समुदायों से ज़्यादा होती है, चाहे वह समुदाय जातिगत हो, भाषागत, राष्ट्रीय या जातीय (एथनिक)। लेकिन ये कतिपय कॉमरेड इस तरह से बात कर रहे हैं कि जैसे यहाँ की हिन्दीभाषी और पंजाबीभाषी मेहनतकश जनता के बीच ही कोई चीन की दीवार हो।

हम इस पर सहमत हैं कि हरेक को उसकी मातृभाषा में पढ़ने और व्यवहार का हक़ मिलना चाहिए और सभी के पास प्राथमिक शिक्षा यानी शुरू से ही मातृभाषा में पढ़ने-लिखने का अवसर होना चाहिए। हरियाणा की सरकारों के द्वारा पंजाबी की बजाय तेलुगू या तमिल को दूसरी भाषा का दर्जा देने के हम भी पक्ष में नहीं हैं। असल में दूसरी भाषा को चुनने और पढ़ने का विकल्प स्वेच्छा पर आधारित होना चाहिए।

मातृभाषा को दबाने का विरोध करना सही है लेकिन इस मुद्दे पर दोहरा बर्ताव करना ग़लत है!

मातृभाषा के दमन के हर प्रयास का विरोध क़तई जायज़ है। लेकिन जब दूसरी आबादी के भाषाई दमन पर आप मौन रहेंगे और उसपर एक शब्द भी नहीं उचारेंगे तो आपको क्या कहा जायेगा?! बेशक अल्पसंख्यक समुदायों द्वारा बोली जाने वाली भाषाओं को भी तवज्जो दी जानी चाहिए तथा इसके लिए सरकारों पर दबाव डालना चाहिए। लेकिन जब हिमाचल प्रदेश और हरियाणा पंजाब का हिस्सा थे और यहाँ पंजाबी थोपी हुई थी, तो उस घटना को आप गोल कर जायेंगे और इतिहास की उस ग़लती पर क्यों कुछ नहीं बोलेंगे? क्या आपको पता है कि 1986 में अबोहर व फाजिल्का नामक दो हिन्दी भाषी क़स्बों और 83 हिन्दी भाषी गाँवों को इसलिए हरियाणा में नहीं मिलने दिया गया क्योंकि कन्दूखेड़ा नामक पंजाबी भाषियों का मात्र एक गाँव बीच में पड़ता था। *(सन्दर्भ लिंक हेतु कृपया फ़ेसबुक पोस्ट देखें – सम्पादक)* क्या राष्ट्रवादी विचलन के शिकार इन कतिपय कॉमरेडों को जनता को लड़ाने और भाषाई-धार्मिक-क्षेत्रीय आधार पर बाँटने की पंजाब के शासक वर्ग की कारगुज़ारियों का पता ही नहीं है? क्या वे बहुत भोले व अज्ञानी हैं या राष्ट्रवादी विचलन और बिग नेशन शॉविनिज़्म का चश्मा और भाषाई कट्टरतावाद का मोतियाबिन्द उन्हें पंजाबियों में मौजूद शोषक-शासक वर्ग को पहचानने ही नहीं देता?!

सिरसा समेत हरियाणा के अन्य ज़िलों की पंजाबीभाषी आबादी के लिए आप माँग करते हैं कि इनका पढ़ाई-लिखाई से लेकर सभी दफ़्तरी काम, सब कुछ पंजाबी में होना चाहिए किन्तु पंजाब में लाखों की संख्या में खट रही बिहार, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश आदि से आयी मेहनतकश आबादी के लिए आपके झोले में कुछ भी नहीं है? अबोहर-फाजिल्का क्षेत्र के हज़ारों हिन्दी भाषी लोगों के लिए भी आपके पास कहने-सुनने के लिए कुछ नहीं है? क्या उन्हें भी हिन्दी में पढ़ने-लिखने और सरकारी कामकाज का अधिकार नहीं है? पंजाब के लिए तो आपकी माँग है कि पूरी शिक्षा, पूरा सरकारी कामकाज, न्यायपालिकाओं व दफ़्तरों का काम केवल पंजाबी में होना चाहिए! तो फिर यही तर्क हरियाणा के उन क्षेत्रों पर क्यों नहीं लागू करते जहाँ पंजाबीभाषी आबादी एक विचारणीय अल्पसंख्या है। यह है आपका दोहरा पैमाना। राष्ट्रवादी विचलन और भाषाई कट्टरतावाद के झोल में आप यह तक भूल रहे हैं कि कोई भी भाषाभाषी समूह दीवारों के

बीच नहीं रहता बल्कि उसे भी अपने आस-पास की आबादी से व्यवहार करना पड़ता है। भाषाएँ भी स्वतःस्फूर्त तरीक़े से ऐतिहासिक-सामाजिक प्रक्रिया में अन्ततोगत्वा आपस में घुलती-मिलती हैं, क्रिया-प्रतिक्रिया करती हैं।

चाहे सिरसा का मसला हो या फतेहाबाद का (फतेहाबाद में तो वैसे भी पंजाबीभाषी बहुसंख्यक नहीं हैं), **मूल बात यह है कि आज जब देश की जनता के लिए तमाम सामाजिक-आर्थिक मसले और साथ ही राजनीतिक मसले अहम बने हुए हैं और जब राज्यों का पुनर्गठन किसी भी रूप में जनता की जीवन्त माँग है ही नहीं, तो यह माँग उठाकर दोनों राज्यों की जनता के बीच एक फूट डालने की सम्भावना क्यों पैदा की जाये?** जल्द ही यह माँग कोई बुर्जुआ पार्टी ले उड़ेगी जो कि इसके आधार पर मेहनतकश जनता के बीच ही दीवार खड़ी कर देगी। **ग़ौर करें कि हम इसके साथ मातृभाषा में शिक्षण व सभी राजकीय कामकाज के अधिकार की पूरी तरह हिमायत करते हैं और इसका एक मार्क्सवादी के लिए बुर्जुआ राष्ट्र में प्रान्तों की टेरीटोरियल सीमाओं से कोई लेना-देना नहीं होता है।** मिसाल के तौर पर, सोवियत रूस में मॉस्को व पीटर्सबर्ग में भी एक दागिस्तानी छात्र को भी दागिस्तानी में पढ़ने का हक़ था। कोई कह सकता है कि यह तो समाजवादी राज्य में ही सम्भव है। निश्चित तौर पर। लेकिन हमारी माँगें राजनीतिक सहीपन के अनुसार तय होती हैं, हमेशा इस आधार पर तय नहीं होतीं कि पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर क्या सम्भव है, ख़ास तौर पर तब जबकि इसके कारण मेहनतकश जनता के बीच की एकता ही टूटने का ख़तरा हो।

बागड़ी बोली का प्रश्न

साथ ही कतिपय कॉमरेड लोग तथ्यों की तो बेशुमार ग़लतियाँ करते चले गये हैं। सभी ग़लतियों के वर्णन और उन्हें ठीक करने में तो कई रातें काली करनी पड़ सकती हैं इसलिए हम कुछ को ही इंगित कर रहे हैं। एक जगह ऐसे लोग भारत सरकार के हवाले से कहते हैं कि बागड़ी पंजाबी की बोली है (ऐसे लोग आवश्यकता के अनुसार सरकारी आँकड़ों पर भरोसा कर या नहीं कर सकते हैं!), जबकि असल बात यह है कि बागड़ी के अलग-अलग रूप हिन्दी और पंजाबी दोनों की ही बोलियों में शामिल हैं। बागड़ी को शाब्दिक तौर पर भी लें तो समझ आ जाता है कि यह बगड़ क्षेत्र की बोली है। इसे बोलने वाले मुख्य तौर पर राजस्थान और राजस्थान की सीमा से लगते हरियाणा, पंजाब, गुजरात के इलाक़ों में पाये जाते हैं तथा क्षेत्रीय भिन्नताओं के साथ बागड़ी बोली के भी विविध रूप प्रचलित हैं। **बागड़ी भाषा पर हुए तमाम अध्ययनों के अनुसार बागड़ी बोली की लेक्सिकल समानता 65 प्रतिशत हरियाणवी के साथ है और इसका सब्जेक्ट-ऑब्जेक्ट-वर्ब ऑर्डर भी हरियाणवी से बिल्कुल क़रीब है। इसकी पंजाबी से कुछ समानता फ़ोनोलॉजिकल टोंस के आधार पर है। लेकिन सापेक्षिक रूप से यह ज़्यादा निकट हरियाणवी व राजस्थानी के ही है न कि पंजाबी के। लेकिन फिर भी इसे हरियाणवी, पंजाबी और राजस्थानी के बीच की सेतु बोली भी कहा गया है, जिसमें इसकी ज़्यादा क़रीबी हरियाणवी और कुछ अध्येताओं के अनुसार राजस्थानी के साथ है। एम. पॉल ल्यूइस के अनुसार, बागड़ी राजस्थानी का अंग बनती है ('एथनोलॉग, लैंग्वेजेस ऑफ़ दि वर्ल्ड', सोलहवाँ संस्करण, डलास, टेक्सास, एसआईएल इण्टरनेशनल)।** यह तो रही बागड़ी के बारे में तथ्यों की बात। लेकिन यही असल बात नहीं है।

असल में तो इन कतिपय कॉमरेडों के द्वारा हिन्दी और पंजाबी को जिस तरह से दुश्मन के तौर पर खड़ा किया जा रहा है वह तरीक़ा ही अनुचित है। शासक वर्ग की कुचेष्टाओं का बिल्कुल विरोध होना चाहिए लेकिन क्या हिन्दी और पंजाबी एक ही भाषा परिवार हिन्द-ईरानियन भाषा समूह का हिस्सा होने के नाते सहोदराएँ नहीं हैं? क्या भाषाओं के मामले में कट्टरता अपनाकर किसी भाषाभाषी समूह को लोहे की दीवारों में रखा जा सकता है? बोलियों और भाषाओं के अन्तर्सम्बन्धों पर राष्ट्रवादी विचलन और भाषाई कट्टरतावाद के शिकार इन कतिपय कॉमरेडों ने जो ज्ञान वर्षा की है उसे यदि कोई सच्चा भाषा-वैज्ञानिक पढ़ ले तो उसे दिल का दौरा पड़ सकता है।

इनका कहना है कि हरियाणा की बोलियों को हिन्दी की बोलियाँ नहीं कहा जा सकता! साथ ही ये इसी सन्दर्भ में एक और अवधारणा लाते हैं – उप-भाषा! लेकिन असल में इन्होंने भाषा, उप-भाषा और बोलियों के अन्तर्सम्बन्धों को समझने की कोशिश ही नहीं की है और बिना बात के ही मास्टरजी बन बैठे हैं।

हरेक बोली भाषा के तौर पर कैसे विकसित हो सकती है? **मज़ेदार बात यह है कि हमारे कतिपय कॉमरेड इसी तर्क को पंजाबी भाषा पर लागू नहीं करते, क्योंकि उस तर्क के अनुसार तो पंजाबी की सभी बोलियों को स्वतंत्र भाषाओं के रूप में विकसित हो जाना चाहिए या किया जाना चाहिए! आप ख़ुद बतायें कि पश्चिमी पंजाब में बोली जाने वाली बोलियों में मुलतानी, डेरावाली, अवाणकारी और पोठोहारी एवं पूर्वी पंजाबी की बोलियों में पहाड़ी, माझी, दूआबी, पुआधी, मलवई और राठी इत्यादि स्वयं भाषाओं के तौर पर विकसित क्यों नहीं हो गयीं? यानी कि अन्य सभी भाषाओं की बोलियों को स्वतंत्र भाषाओं में विकसित हो जाना चाहिए, लेकिन पंजाबी की बोलियों को नहीं! क्या केवल हिन्दी पर ही आपकी जाड़ बजती है?** हिन्दी के निर्माण और फैलाव के पीछे चाहे जो भी कारण रहे हों किन्तु हिन्दी आज करोड़ों लोगों द्वारा बोली जाने वाली एक जन-भाषा है। उसमें भी स्तरीय लेखन और साहित्य मौजूद है। हिन्दी को विकसित करने में बहुत-सी बोलियों का अक्षुण्ण योगदान है, उसमें भी सबसे ज़्यादा हरियाणवी के सबसे क़रीब पड़ने वाली खड़ी बोली का योगदान

है। हरियाणा क्षेत्र की हिन्दी की बोलियों पर आगे अलग से संक्षिप्त चर्चा की गयी है। जिस तरह से पंजाबी भाषा को लेकर आपके दिल में दर्द है वैसे ही हिन्दी के बारे में अनाप-शनाप सुनने के लिए हिन्दीभाषी भी अभिशप्त नहीं हैं। भाषा सबसे पहले एक अभिव्यक्ति का साधन है तथा यह भी जीवित चीज़ के समान गतिमान है। शासक वर्ग के प्रयोजनों – जिनकी हम भी मुख़ालफ़त करते हैं – को एक तरफ़ रख कर हिन्दी को उसके ऐतिहासिक विकास क्रम में रखकर सोचें तब हो सकता है आपको हिन्दी को लेकर इस तरह की तकलीफ़ न हो जैसे अब हो रही है।

हरियाणवी बोलियों का सवाल

देसवाली, बांगरू, बागड़ी, ब्रज, मेवाती, अहीरी, कौरवी, अम्बालवी इत्यादि नामों से ख्यात बोलियाँ हरियाणा के क्षेत्र में बोली जाती हैं। ये बोलियाँ एक दूसरे के काफ़ी नज़दीक भी हैं। **यह ज़रूरी नहीं होता कि हरेक बोली भाषा के तौर पर विकसित हो सके।** और इसका बाद में कृत्रिम रूप से प्रयास करना वस्तुतः ऐतिहासिक तौर पर प्रतिक्रियावादी ही माना जायेगा। इस तर्क से तो हिन्दी किसी न किसी बोली से ही विकसित होनी चाहिए थी लेकिन हिन्दी ने बहुत-सी बोलियों और नये शब्दों के साथ ख़ुद को समृद्ध किया है, किसी से ज़्यादा तो किसी से कम। आमतौर पर होता यह है कि विभिन्न बोलियों का साहित्य (लिखित या अलिखित) और शब्दभण्डार भाषा को आधार मुहैया कराता है। आगे चलकर मानकीकरण की प्रक्रिया से गुज़रने के बाद कोई भाषा ढलती है और विकसित होती है। भाषा के विकसित हो जाने के लम्बे समय बाद तक भी बोलियाँ जीवित रह सकती हैं। यहाँ पर हमारा इस बात से क़तई इन्कार नहीं है कि हिन्दी समेत किसी भी भाषा के थोपे जाने का विरोध करना चाहिए। किन्तु यह स्पष्ट होना चाहिए कि हरियाणा की विभिन्न बोलियाँ और इनके शब्दभण्डार हिन्दी से जाकर मिलते हैं न कि पंजाबी या किसी और भाषा में। हरियाणा प्रदेश के बांगर, खादर, नैळी और बागड़ से लगते इलाक़ों में बोली जाने वाली विभिन्न बोलियों में से कुछ पर पंजाबी का प्रभाव अवश्य हो सकता है लेकिन इन्हें पंजाबी भाषा और इसकी बोलियाँ तो नहीं ही समझ सकते। यह प्रभाव भी पूर्णतः सापेक्षिक चीज़ है। किन्हीं भी दो भाषाओं के क्षेत्रीय सीमान्तों (टेरीटोरियल लिमिट्स) के आस-पास बोली जाने वाली दोनों ही भाषाओं के लेक्सिकॉन, फ़ोनोलॉजी और कर्ता-कारक-क्रिया क्रम पर दूसरी भाषा का कुछ प्रभाव होता ही है। यूरोप की सभी भाषाओं के सन्दर्भ में और भारत की भी तमाम भाषाओं के सन्दर्भ में यह बात देखी जा सकती है।

दूसरी बात, सीमित समय के लिए पेप्सू के अन्तर्गत आने के कारण जीन्द और हरियाणा के अन्य इलाक़ों का इतिहास नहीं बदल जाता। यदि हरियाणा का क्षेत्र ऐतिहासिक तौर पर पंजाब का हिस्सा रहा होता तो यहाँ की भाषा पंजाबी होती जो कि नहीं है। क्या 'पेप्सू' Patiala and East Punjab States Union (PEPSU) के अन्तर्गत आने वाले जीन्द और दादरी के इलाक़ों की बहुसंख्यक आबादी की भाषा पंजाबी रही है? नहीं, यह हिन्दी की ही बोलियों में से एक बांगरू और खड़ी बोली रही है। क्या हरियाणा का हिस्सा या पूरा हरियाणा ही पेप्सू या तथाकथित महापंजाब के अन्तर्गत आने के कारण पंजाब हो जाते हैं? नहीं। क्योंकि हरियाणा ऐतिहासिक तौर पर सल्तनत, मुगल, राजपूत, मराठा और ब्रिटिश शासन के अधीन भी रहा है। स्वयं पंजाब ही ऐतिहासिक तौर पर मराठों, राजपुताना और मुगलों व तुर्कों के क़ब्ज़े में रह चुका है। इसकी वजह से आज अगर उस पर राजस्थान या मराठा दावा ठोक दें, तो? तो भी यह उतनी ही मूर्खतापूर्ण बात होगी! जब हमारी बात का आधार कल्पना और इतिहास की कोई ख़ुशफ़हमी हो तो यह हास्यास्पद निष्कर्षों तक ले जाने में सहायक सिद्ध हो सकती है। यह स्पष्ट तौर पर कहा जा सकता है कि हरियाणा में बोली जाने वाली विभिन्न बोलियाँ किसी भी तौर पर पंजाबी या अन्य भाषा की बजाय हिन्दी से जुड़ती हैं। असल में हिन्दी को दुत्कारने और हरियाणवी बोलियों के स्वतंत्र अस्तित्व की बात करने के पीछे इन कतिपय कॉमरेडों का असली मन्तव्य येन-केन-प्रकारेण हरियाणा को पंजाबियत और आगे चलकर महापंजाब (जिसके, जैसा कि हम कह चुके हैं, कई संस्करण हो सकते हैं) नामक यूटोपिया से जोड़ने का प्रतीत होता है। चूंकि भाषा किसी भी राष्ट्रीय पहचान के प्रमुख तत्वों में से एक होती है इसीलिए इस तरह की उलटबासियों के प्रदर्शन हो रहे हैं। लेकिन हम ठीक भाषाई आधार पर ही महापंजाब के घोलमट्ठे में मुख्यतः और मूलतः हिन्दीभाषी हरियाणा की मिलावट को आसानी से ख़ारिज कर सकते हैं।

क्या भाषाई आधार पर इलाक़ों के पुनर्विभाजन की माँग उचित है?

मातृभाषा में पढ़ाई और व्यवहार पर हम अपनी बात ऊपर कर आये हैं लेकिन राष्ट्रवादी विचलन के शिकार हमारे कतिपय कॉमरेड भाषाई आधार पर फिर से पुनर्विभाजन की माँग उठा रहे हैं। सिरसा में पंजाबीभाषियों का संकेन्द्रण अधिक हो सकता है, लेकिन ऐसा तो पंजाब के भी कुछ ज़िलों के बारे में कहा जा सकता है, कि वहाँ कुछ क्षेत्रों या गाँवों में हिन्दीभाषी आबादी संकेन्द्रित है। लेकिन असली बात यह है कि भाषाई आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की माँग आज दोनों ही राज्यों की व्यापक मेहनतकश जनता के लिए कोई जीवन्त मसला नहीं है।

ठीक उसी प्रकार चण्डीगढ़ को पूर्णतः पंजाब में शामिल करने की माँग भी आज सही नहीं ठहरती। भाषा के भी आधार पर देखा जाये तो वहाँ 73 प्रतिशत आबादी हिन्दीभाषी है और 22 प्रतिशत पंजाबीभाषी। यह सच है कि इतिहास में

(पेज 65 पर जारी)

लोकरंजकतावाद और भाषाई अस्मितावाद के ख़तरे

● **सम्पादक मण्डल, 31 अक्टूबर 2019**

कम्युनिस्ट आन्दोलन में लोकरंजकतावाद (Populism) और अस्मितावाद (Identity politics) हमेशा ही एक ख़तरनाक विजातीय प्रवृत्ति की भूमिका निभाते रहे हैं। लोकरंजकतावाद कई क़िस्म का हो सकता है। एक बुर्जुआ सचेतन होता है। लेकिन दूसरे प्रकार का लोकरंजकतावाद और अस्मितावाद कम्युनिस्ट आन्दोलन के भीतर होता है, जिसमें कई बार तो लोग अनजाने और मासूमियत में इसके शिकार हो जाते हैं, तो कई बार कठिन परिस्थितियों और प्रश्नों का जवाब दे पाने की अक्षमता के कारण। जब वे जीवित प्रश्नों से टकराने का कारगर रास्ता नहीं निकाल पाते हैं, तो लोकरंजकतावाद और किसी प्रकार के अस्मितावाद के आत्मघाती कुचक्र में जा फँसते हैं।

हाल ही में एक बेहद सस्ते और उथले क़िस्म का लोकरंजकतावाद भाषाई अस्मितावाद और राष्ट्रीय अस्मितावाद के रूप में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों की कुछ क़तारों में प्रवेश कर गया है। कुछ वामपन्थी बुद्धिजीवियों में ऐसा रुझान पहले भी था। आज वह कुछ क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट जमातों में भी दिखलाई पड़ रहा है। जिन पाठकों ने पिछले दिनों आह्वान के फ़ेसबुक पेज से की गयी पोस्टों को पढ़ा है, वे जानते हैं कि हम हाल ही में भाषा के प्रश्न पर इस विजातीय रुझान से चलायी जा रही बहसों की ओर इशारा कर रहे हैं। इस बहस में जब इन कतिपय कम्युनिस्टों के पास कोई जवाब नहीं बचा है तो अपने ताज़ा बयान में उन्होंने निम्न दावे किये हैं :

1. हमने (यानी आह्वान ने, जिन्हें कि ये कतिपय कम्युनिस्ट 'दिल्ली में बैठे विद्वान' क़रार दे रहे हैं!) उनके मुँह में कुछ बातें डाल दी हैं, जो कि वे कह ही नहीं रहे हैं। लेकिन इन्होंने यह बताने की जहमत नहीं उठायी है कि वे कौन-सी बातें हैं, जिन्हें हम उनके मुँह में डाल रहे हैं। एक बार फिर हम बता दें कि हमारे द्वारा इन कतिपय कम्युनिस्टों की क्या आलोचना पेश की गयी थी, ताकि सीधे इस पोस्ट को पढ़ रहे साथियों को मालूम रहे :

(क) इनके द्वारा कहा गया कि 1966 में भाषाई आधार पर हुए राज्यों के पुनर्गठन में पंजाब के साथ अन्याय हुआ और पंजाबीभाषी बहुल सिरसा भी हरियाणा में चला गया इसलिए उस पुराने बँटवारे को रद्द करके राज्यों का नया बँटवारा किया जाना चाहिए। इस पर हमने यह कहा कि वैसे तो अबोहर-फाजिल्का के भी 83 गाँव हिन्दीभाषी हैं, लेकिन आज जबकि पंजाब या हरियाणा की जनता के लिए यह कोई मुद्दा ही नहीं है, तो इसे मुद्दा बनाना ग़लत है। यह पंजाब और हरियाणा की आम मेहनतकश जनता के बीच ही फूट डाल देगा। **अब हम पूछते हैं : क्या आपने यह माँग नहीं उठायी है? हम यह बात तो आपके मुँह में नहीं डाल रहे हैं?**

(ख) इन्होंने अपने फ़ेसबुक पेज से लगातार ऐसी पोस्टें शेयर की हैं जिनमें यह माँग उठायी गयी है कि पंजाब में समस्त शिक्षण-प्रशिक्षण और सरकारी कामकाज ***केवल*** पंजाबी में होना चाहिए! वैसे तो ये कनाडा के प्रधानमंत्री ज़ायनवादी साम्राज्यवादी जस्टिन त्रूदो को इस बात के लिए बधाई दे रहे थे कि कनाडा में पंजाबीभाषियों के अल्पसंख्यक होने के बावजूद उसने संसद की कार्रवाई का पंजाबी में भी प्रसारण किया (बाद में, सम्भवतः इस पोस्ट की राजनीतिक अश्लीलता को देखकर इन्होंने ये पोस्ट हटा ली!) **लेकिन पंजाब के 27 लाख मेहनतकश प्रवासियों को अपनी मातृभाषाओं में पढ़ने और समस्त सरकारी कामकाज के अधिकार से ये वंचित रखना चाहते हैं।** क्योंकि यदि सारा काम सिर्फ़ पंजाबी में होगा तो फिर ज़ाहिर-सी बात है कि पंजाबी भाषा इस भारी ग़ैर-पंजाबीभाषी आबादी के लिए थोपी गयी भाषा बन जायेगी। **क्या आपने पंजाबी भाषा की "सरदारी" (वर्चस्व) को स्थापित करने की माँग उठाते हुए अपने फ़ेसबुक पेज से ऐसी पोस्ट नहीं शेयर की थी? क्या यह बात हम आपके मुँह में डाल रहे हैं?** चाहे वह पोस्ट मूलतः किसी ने भी लिखी हो, यदि आप अपनी पत्रिका के फ़ेसबुक पेज से उसे शेयर कर रहे हैं, तो इसका अर्थ यही है कि आप उसका अनुमोदन (एण्डोर्स) कर रहे हैं। ऐसे में, आप अब अपनी कही बातों से भाग रहे हैं और हमीं पर भड़क रहे हैं कि हमने आपके मुँह में बातें डाल दीं, हालाँकि वे कौन-सी बातें हैं, यह नहीं बता रहे। इसे कहते हैं 'उल्टा चोर कोतवाल को डांटे'।

(ग) आपने एक अन्य वीडियो शेयर किया था जिसमें कि 1947 के पहले के पंजाब राज्य के नक़्शे को दिखाकर यह कहा गया था कि पहले 1947 में पंजाब के साथ अन्याय हुआ और फिर 1966 में भी अन्याय हुआ और आज पंजाब को कितनी कम ज़मीन पर गुज़ारा करना पड़ रहा है और पहले का महापंजाब कितना बड़ा था। **आपका मानना है कि वीडियो शेयर करने से आप पुराने महापंजाब की माँग नहीं उठा रहे हैं। इस पर हमने कहा था कि किसी वीडियो को शेयर करना उसकी अवस्थिति का समर्थन ही होता है और बाद में तो अपनी लिखित पत्रिका के एक लेख में आपने बाक़ायदा 1966 के पुनर्गठन को रद्द कर नया पुनर्गठन करने की माँग भी उठा दी है। इसलिए अपनी इस बात**

से आप भाग नहीं सकते। हमारा आपकी इस अवस्थिति पर कहना था कि 1947 में ***सिर्फ़*** पंजाब के साथ अन्याय की बात करना राष्ट्रवादी विचलन को दिखलाता है; 1947 में पूरे देश के साथ और विशेष तौर पर कई राज्यों के साथ अन्याय हुआ था। 1966 के राज्यों के भाषाई पुनर्गठन को रद्द कर नये पुनर्गठन की माँग करने को हम एक ग़ैर-मुद्दा मानते हैं जो कि मुद्दा बनाये जाने पर आम अवाम को ही बाँट देगा। इन दोनों ही आलोचनाओं पर कोई जवाब देने की बजाय आपने पतली गली से कट लेने और 'हमारे मुँह में अपनी बात डाल दी' की डफ़ली बजा दी है। **क्या वाक़ई हमने आपके मुँह में कोई बात डाली है?**

(घ) इन कतिपय कम्युनिस्टों के ही पत्रिका के फ़ेसबुक पेज से एक बच्ची का वीडियो डाला गया था जिसमें कि वह पंजाबी को 'अपने गुरुओं, अपने धर्म, और अपने देश' की भाषा बता रही थी। इस वीडियो को भी बाद में हटा लिया गया। लेकिन यह तो पलायन की कार्रवाई थी। मूल बात यह है कि आपने वह वीडियो शेयर किया था और वह आपके पूरी पहुँच और पद्धति के अंग के तौर पर हुआ था। यह भाषा पर मार्क्सवादी नज़रिये का मख़ौल बनाना है। **क्या यह वीडियो आपने शेयर नहीं किया था? क्या यह बात हमने आपके मुँह में डाल दी?**

(ड) आपका दावा है कि हर बोली को भाषा के रूप में विकसित किया जाना चाहिए और ऐसा किया जा सकता है और यह कि हिन्दी कई बोलियों को "मारकर" विकसित हुई है। हमने इस पूरे तर्क को सन्दर्भों समेत खण्डित किया और आपको बताया कि हर बोली भाषा के रूप में नहीं विकसित होती है। दूसरी बात, भाषाएँ महज़ राज्यसत्ता की ज़बर्दस्ती से भाषाएँ बन ही नहीं सकती हैं। वे ऐतिहासिक प्रक्रिया में कई बोलियों के वैज्ञानिक और ऐतिहासिक अमूर्तन के ज़रिये भाषाएँ बनती हैं। वास्तव में, 1947 में भारतीय पूँजीपति वर्ग के सत्ता में आने के काफ़ी पहले ही हिन्दी और उर्दू दोनों ही हिन्दुस्तानी की खड़ी बोली से विकसित हो चुकी थीं और करोड़ों लोगों की मातृभाषाएँ बन चुकी थीं। बाद में यदि भारतीय पूँजीपति वर्ग ने उसे अपनी पूँजीवादी राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया का कैरियर बनाया (जिसके निश्चित ऐतिहासिक कारण थे, जिन पर हम पिछली पोस्ट में चर्चा कर चुके हैं) तो इसमें हिन्दी भाषा की कोई ग़लती नहीं है। दूसरी बात, मुख्य रूप से खड़ी बोली से विकसित होने के बावजूद हिन्दी ने मागधी, कौरवी, ब्रज, वज्जिका, भोजपुरी, अवधी, कन्नौजी, अहीरी आदि सभी से लेक्सिकन, संरचना, व व्याकरणिक तौर पर चीज़ें ली हैं। इसी को हम कई बोलियों का ऐतिहासिक व वैज्ञानिक सामान्यीकरण व अमूर्तन कह रहे हैं। कोई भी भाषा बाहर से आकर बोलियों को नहीं दबाती है। वह इन्हीं बोलियों के अमूर्तन, वैज्ञानिक मानकीकरण, मानक लेक्सिकन के निर्माण (जो कि बाद में भी काफ़ी लचीला रहता है) और कर्ता-कारक-क्रिया क्रम से सीखकर विकसित होती है। **भाषा के बारे में इन कतिपय कम्युनिस्टों का नज़रिया ही बेहद बचकाना, मूर्खतापूर्ण, अनैतिहासिक, अवैज्ञानिक, अस्मितावादी और लोकरंजकतावादी है। हमारी पहले की पोस्टों में इस बाबत रखे गये किसी भी तर्क या तथ्य का इन कतिपय कम्युनिस्टों ने कोई जवाब नहीं दिया है और इन्हें "विद्वानों की बातें" बताकर ख़ारिज कर दिया है। आम तौर पर, विज्ञान से रिक्त लोगों में एक प्रकार का प्रतिक्रान्तिकारी और ग़ैर-सर्वहारा 'एण्टी-इण्टलेक्चुअलिज़्म' पैदा हो जाता है। वे पहले तर्कसम्मत बात को विद्वानों की बात बोल देते हैं और फिर घबराकर मूर्खता और अज्ञान का जश्न मनाने लग जाते हैं।**

(च) जो मूर्खतापूर्ण बात हमारे कतिपय कम्युनिस्ट भाषा और बोलियों के रिश्ते पर करते हैं, वह बात यह केवल हिन्दी भाषा पर ही लागू करते हैं। **हमने इन्हीं के तर्क को पंजाबी भाषा और उसकी तमाम बोलियों पर लागू करके इनसे पूछा था कि क्या मानकीकृत पंजाबी भाषा भी इन बोलियों की "हत्या" करके पैदा हुई है? इस सवाल पर इन्हें सनाका मार गया है! इस पर ये कोई जवाब देने से भाग रहे हैं और तरह-तरह की चीख़ें मार रहे हैं जैसे कि "हमारे मुँह में बातें डाल दीं", "ये तो विद्वानों की बातें हैं", "ये तो दिल्लीवाले हैं", "ये तो हिन्दीवाले हैं" वग़ैरह जैसी अहमकाना बातें।** हम कहेंगे कि 'भागिए मत! जुमलेबाज़ी मत करिए। ठोस सवालों का ठोस जवाब दीजिए।' लेकिन पलायन का एक ट्रेडमार्क तरीक़ा इन लोगों ने अपनाया है : 'सवालों से भागो और सवालों को ही दोषी ठहराओ!'

(छ) बागड़ी बोली को इन्होंने पंजाबी की बोली क़रार दिया था और इस आधार पर बागड़ी बोलने वालों के क्षेत्र और आबादी को मिलाकर हरियाणा के 30 प्रतिशत लोगों को पंजाबीभाषी घोषित कर दिया था! हमने अपनी पिछली दो पोस्टों में तथ्यों, तर्कों और वैज्ञानिक शोधकार्यों के सन्दर्भ समेत दिखाया कि बागड़ी बोली हिन्दी की उपभाषा हरियाणवी, राजस्थानी (जो कि एक भिन्न भाषा है) और पंजाबी के बीच की सेतु बोली है, **लेकिन इसमें भी बागड़ी की सापेक्षिक निकटता हरियाणवी तथा राजस्थानी के साथ ज़्यादा बनती है, पंजाबी के साथ नहीं।** यह आधिकारिक तौर पर राजस्थानी की उपभाषा/बोली मानी भी जाती है। **लेकिन इन महानुभावों की कार्यदिशा के अनुसार तो बागड़ी को भी इन्हें पंजाबी की बोली नहीं बोलना चाहिए और उसे स्वतंत्र भाषा के रूप में विकसित करना चाहिए। कहीं ये बागड़ी बोली का पंजाबी भाषा द्वारा दमन और उसकी हत्या का प्रयास तो नहीं है!?** इन महानुभावों के हिसाब से तो ऐसा ही नतीजा निकालना चाहिए! ग़लत कार्यदिशा के पक्ष में कुतर्क

गढ़ते जाने के साथ यही समस्या होती है : ऐसे लोग ख़ुद ही भूल जाते हैं कि उन्होंने पहले क्या कहा था और और उनकी कार्यदिशा का क्या अर्थ निकलता है!

(ज) हमारे कतिपय कम्युनिस्टों का मानना है कि पंजाबीभाषी लोग हरियाणा में और देश में दमित समुदाय हैं, जो डर के मारे अपनी मातृभाषा हिन्दी बताते हैं। हमने स्पष्ट किया था कि यह बात ही तथ्यतः ग़लत है। उल्टे हरियाणा की अर्थव्यवस्था से लेकर राजनीति में पंजाबीभाषियों की अच्छी साझेदारी रही है। स्पष्ट है कि मेहनतकश आबादी तो हर जगह ही दमित होती है। लेकिन वह दूसरी बात है। इन कतिपय कम्युनिस्टों ने अपनी पत्रिका के फ़ेसबुक पेज से एक ऐसा वीडियो भी शेयर किया था जिसमें दिल्ली में एक सरदार ऑटो चालक की पुलिस द्वारा पिटाई की जा रही थी और इन कतिपय कम्युनिस्टों का यह कहना था कि उसे इसलिए पीटा जा रहा था क्योंकि वह सिख था। इस पर पंजाब के ही कई सूझबूझ बाले साथियों और कॉमरेडों और साथ ही अन्य तमाम लोगों ने आपत्ति दर्ज करायी थी कि इसे धर्म का रंग देना ग़लत है और यह तो हर धर्म के ही ऑटोचालकों के साथ दिल्ली में पुलिस वाले आये दिन करते हैं। इस पर इन्होंने एक बेहद कमज़ोर सफ़ाई भी दी थी, जो कि किसी भी समझदार व्यक्ति के लिए कन्विंसिंग नहीं थी।

यह बात भी हमने अपनी शुरुआती एक पोस्ट में कही थी और बाद में भी कही थी कि पंजाबी राष्ट्रीयता भारत में या हरियाणा में कोई दमित राष्ट्रीयता नहीं है। इस बारे में हमने दमित राष्ट्रीयता के अर्थ को भी स्पष्ट किया था और साथ ही पंजाबी राष्ट्रीयता पर उसके लागू न होने के तथ्य और तर्क भी पेश किये थे। लेकिन इन पर इन कतिपय कम्युनिस्टों ने कोई जवाब देने की बजाय वही धुन्ध फैलाने की रणनीति अपनायी है, यानी जुमले उछालो ("ये दिल्ली के विद्वानों की बातें हैं", "ये हिन्दीवालों की बातें हैं", वग़ैरह) और जवाब दिये बिना भागो।

2. अपनी नयी पोस्ट में इन कतिपय कम्युनिस्टों ने हमारे ऊपर झूठे आरोपों की (जिनका खण्डन हम पहले भी कर चुके हैं और अगले पैरा में भी कर रहे हैं) बारिश कर भारत के सभी बोलियों के लोगों और (हिन्दी के अलावा) अन्य सभी भाषा के लोगों का आह्वान किया है कि वे उनके एक मातृभाषा सम्मेलन में शामिल होकर हम "दिल्ली के हिन्दीभाषी विद्वानों" को ग़लत सिद्ध कर दें! यह पूरा तर्क लोकरंजकतावाद से ही निकलता है और इससे इनका भाषाई अस्मितावाद भी एकदम निपट नंगा हो जाता है। पहली बात तो यह कि हम दिल्ली के हैं और आप लुधियाना के, इससे हमारे और आपके तर्कों (हालाँकि आपके पास ऐसा कुछ है नहीं जिसे तर्क कहा जा सके) की सेहत पर कोई असर नहीं पड़ता। अगर हमारा तर्क ग़लत है, तो हम इस तर्क के समर्थन में सम्मेलन करके 10 लाख लोग भी जुटा लें (जैसा कि लोकरंजकतावादी तर्कों पर तात्कालिक तौर पर अक्सर हो जाया करता है) तो भी हमारा तर्क इससे सही नहीं हो जाता। आप भी यदि सम्मेलन में लाखों लोगों को एक ग़लत तर्क पर इकट्ठा कर लें, तो इससे आपका तर्क सही नहीं हो जाता, बल्कि उस लोकरंजकतावादी तर्क के ख़तरे ही और बढ़ जाते हैं। इस तर्क से तो आज संघी लोगों का तर्क सबसे सही साबित हो जायेगा! जैसाकि एक विद्वान ने कहा था, "अगर दस लाख लोग भी एक ग़लत बात कहें, तो वह ग़लत बात ही होती है।" तर्क ख़त्म हो जाने पर ही लोग भीड़ जुटाने और उसके लिए अस्मितावाद और लोकरंजकतावाद की बैसाखी पकड़ने का काम करते हैं। ये कतिपय कम्युनिस्ट भी ऐसा ही कर रहे हैं।

कुछ परिधिगत प्रश्न भी थे लेकिन उनके जवाबों के लिए आप हमारी पिछली तीन पोस्टों को देख सकते हैं।

अब आते हैं इस बात पर कि हमने क्या नहीं कहा था जो इन कतिपय कम्युनिस्टों ने बार-बार हम पर थोपने की कोशिश की है और अब भी कर रहे हैं, ताकि भ्रम का धुँआ फैलाकर अपनी ग़लत कार्यदिशा पर समर्थन ले सकें। हमने निम्न बातें बार-बार स्पष्ट की हैं :

1. **हम किसी भी क़ौम पर किसी भी भाषा को थोपे जाने के ख़िलाफ़ हैं।** हमारा मानना है कि हरेक नागरिक को अपनी मातृभाषा में पढ़ने-लिखने और सभी कामकाज का हक़ होना चाहिए। हम सभी भाषाओं को बराबर मानते हैं और यही माँग भी रखते हैं कि उन्हें हर रूप में समान दर्जा मिलना चाहिए। हम राष्ट्रभाषा और राजकीय भाषा की अवधारणा के ख़िलाफ़ हैं और एक साझा राज्य के तहत रहने वाली समस्त आबादी की हरेक भाषा को बराबरी का दर्जा मिलने की हिमायत करते हैं और आज से नहीं बल्कि इस बहस के शुरू होने से बहुत पहले से कर रहे हैं। इसके दस्तावेज़ी और सोशल मीडिया सम्बन्धी प्रमाण उपलब्ध हैं। **इसलिए हम पर हिन्दीवादी होने या हिन्दी को थोपने वाले "विद्वान" का जो आरोप ये कतिपय कम्युनिस्ट लगा रहे हैं, वह वास्तव में पलायन की प्रक्रिया में इनके द्वारा फैलाया जा रहा धुँआ है।**

2. हम मानते हैं कि किसी भाषा को कहीं बाध्यतापूर्ण नहीं बनाया जाना चाहिए बल्कि हर राज्य में सभी नागरिकों के समक्ष अपनी भाषा में पढ़ने-लिखने व समस्त कामकाज का विकल्प होना चाहिए। हमने यह भी पहले ही कहा है कि यही कम्युनिस्टों के लिए सही राजनीतिक माँग है और यह न तो अव्यावहारिक है और न ही असम्भव है। यह सोवियत संघ में काफ़ी हद तक हो गया था और आज तो यूरोपीय संघ के कुछ बहुभाषी पूँजीवादी राज्यों में भी यह विकल्प उपलब्ध है। ऐसे में हम हिन्दी को कहीं भी किसी के लिए भी बाध्यताकारी बनाने के ख़िलाफ़ हैं और हम पंजाब में केवल

पंजाबी भाषा में ही शिक्षण-प्रशिक्षण व सरकारी कामकाज की माँग और पंजाबी की "सरदारी" को स्थापित करने के भी उतना ही ख़िलाफ़ हैं।

3. हम यह नहीं मानते हैं कि किसी मानकीकृत भाषा के विकास के साथ उसकी बोलियों और उपभाषाओं को ख़त्म हो जाना चाहिए या वे ख़त्म हो जाती हैं। वास्तव में, ऐतिहासिक तौर पर बोलियाँ हमेशा ही भाषा के साथ अस्तित्वमान रही हैं। घरों के भीतर और आम अनौपचारिक संवाद में उनका इस्तेमाल होता रहा है और फिर भी वैज्ञानिक शोध, चिन्तन, शिक्षण-प्रशिक्षण हेतु भाषा आवश्यक होती है क्योंकि बिना लेक्सिकन के मानकीकरण, व्याकरणिक संरचना तथा कर्ता-कारक-क्रिया क्रम के मानकीकरण के, वैज्ञानिक शोध, चिन्तन, शिक्षण-प्रशिक्षण हेतु किसी बोली का प्रयोग हो ही नहीं सकता है। जब किसी बोली का ऐसा मानकीकरण और वैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक अमूर्तन होता है, साथ ही, इस प्रक्रिया में और इसके लिए ही वह अन्य बोलियों से भी लेक्सिकन, व्याकरणिक ढाँचे और कर्ता-कारक-क्रिया क्रम के मामले में ग्रहण भी करती है, तब तो वह भाषा का ही स्वरूप ले लेती है। इसके बारे में हमने पिछली पोस्ट में विस्तार से लिखा है, जिज्ञासु पाठक जो कि इस अस्मितावाद और लोकरंजकतावाद में बहे नहीं हैं, वे उन्हें देख सकते हैं।

मातृभाषा पर सम्मेलन करना, उसके विकास की माँग उठाना, उसमें पढ़ने और सभी कामकाज की माँग उठाना बिल्कुल सही है, बशर्ते कि इसके पीछे उपरोक्त ग़लत कार्यदिशा, यानी भाषाई अस्मितावाद और लोकरंजकतावाद की और बिग नेशन शॉविनिज़्म और राष्ट्रवादी विचलन की सोच न हो। हर नागरिक के अपने मातृभाषा में लिखने-पढ़ने व समस्त सरकारी कामकाज के लिए लड़ना कम्युनिस्टों की क्लासिक माँग रही है। लेकिन जब इसे राज्यसत्ता द्वारा भाषा को थोपे जाने का विरोध बनाने की बजाय आम तौर पर किसी या किन्हीं ***भाषाओं का विरोध*** बना दिया जाता है, जब इसे अपनी भाषा की "सरदारी" स्थापित करने की राजनीति बना दिया जाता है, जब इसे किसी भी विशिष्ट भाषा या भाषाओं के अस्तित्व को ही नकारने का माध्यम बना दिया जाता है (जैसे कि बोलियों और भाषा के रिश्ते के प्रश्न पर हमारे कतिपय कम्युनिस्ट कर रहे हैं) तब यह एक प्रतिक्रियावादी लोकरंजकतावाद और भाषाई अस्मितावाद का रूप ले लेती है। इस मसले पर सही राजनीति और अस्मितावादी लोकरंजक राजनीति के बीच की विभाजक रेखा इतनी भी बारीक नहीं है, लेकिन अहं, पूर्वाग्रह और अपने प्रतिक्रियावादी ग़ैर-सर्वहारा एण्टी-इण्टेलेक्चुअलिज़्म में हमारे कतिपय कम्युनिस्ट इस रेखा को देख नहीं पा रहे हैं।

अन्त में, हम सभी सोचने-समझने वाले कॉमरेडों से फिर से अपील करेंगे : **साथियो, इस प्रकार के भाषाई अस्मितावाद और लोकरंजकतावाद में बहना आत्मघाती होगा। दूरगामी तौर पर यह आन्दोलन के लिए भी ख़तरनाक होगा। यह जनता में बँटवारा पैदा करेगा और इसका लाभ पूँजीवादी दल ही उठायेंगे।** इस प्रकार के अस्मितावाद की हिमायत विभिन्न भाषाओं के (हिन्दी समेत) बौद्धिक जगत में उत्तर-आधुनिकतावादी करते हैं। मिसाल के तौर पर, भोजपुरी के बौद्धिक जगत में कुछ बेहद पतित और दलाल क़िस्म के उत्तरआधुनिक बुद्धिजीवी भाषाई अस्मितावाद का झण्डा बुलन्द किये हुए हैं। उनका भी मानना है कि हर बोली को ही भाषा बनाया जाना चाहिए! यह एक प्रतिक्रियावादी, प्रतिगामी और अनैतिहासिक सोच है। उत्तरआधुनिक विमर्श में भी बोलियों और वर्नैक्युलर्स तथा दूसरी ओर भाषा के बीच एक कृत्रिम विरोध खड़ा करने का प्रयास किया जाता रहा है। किसी एक भाषा को *आधुनिक राज्यसत्ता* के दमन का उपकरण बताया जाता है और बोलियों, जार्गन, वर्नैक्युलर, उपभाषाओं को इस दमन के प्रतिरोध की 'साइट' या 'लोकेशन'! **यह एक टिपिकल उत्तरआधुनिकतावादी तर्क है।** जिन्होंने भी मार्क्सवाद द्वारा की गयी उत्तरआधुनिकतावाद की आलोचना को पढ़ा है, वे यह बात अच्छी तरह से जानते हैं। किसी भी राज्यसत्ता द्वारा किसी भाषा को थोपे जाने का विरोध करना एक बात है। लेकिन इसे किसी भाषा के विरोध में तब्दील कर देना मूलतः भाषाई अस्मितावाद का तर्क है जिसकी जड़ें उत्तरआधुनिकतावाद में हैं। क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट न सिर्फ़ भारत में बल्कि पूरी दुनिया में इसकी मुख़ालफ़त करते रहे हैं और सही ही करते रहे हैं। हमारे कतिपय कम्युनिस्टों में चूंकि एक तर्कणा-विरोधी ग़ैर-सर्वहारा एण्टी-इण्टेलेक्चुअलिज़्म पैठा हुआ है और वे "विद्वत्ता-विरोध" के नाम पर किसी तर्क, किसी वैज्ञानिक बात, किसी तथ्य को सुनना नहीं चाहते, इसलिए वह इन बातों से सम्भवतः वाक़िफ़ नहीं हैं। इसीलिए वह अनजाने ही एक ख़तरनाक भंवर में फँसते जा रहे हैं। **ऐसे में, हम सभी सोचने वाले कॉमरेडों से यही अपील करते हैं कि वे इस भयंकर आत्मघाती कार्यदिशा से बचें। ऐसा अस्मितावाद और लोकरंजकतावाद क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन में भस्मासुर के समान होता है। यह बाद में कार्यदिशा को क्रमिक प्रक्रिया में, चोर-दरवाज़े से दुरुस्त करने का प्रयास करने का (जैसा कि इन कतिपय कम्युनिस्टों की "हमारे मुँह में बातें डाल दी गयीं" जैसी बातें करने और यह न बताने कि कौन-सी बातें डाल दी गयीं, से पता चलता है) मौक़ा नहीं देता है। इस ग़लत सोच की अपनी गति होती है और वह किसी के पूर्ण नियंत्रण में नहीं रहती है।**

हम समझते हैं कि हरेक व्यक्ति ऐसी ख़तरनाक कार्यदिशा के प्रभाव में नहीं आ जायेगा। हम यह भी उम्मीद करते हैं कि जो अभी प्रतिक्रिया और पूर्वाग्रह के कारण इस ग़लत कार्यदिशा के प्रभाव में हैं, वे भी ठण्डे दिमाग़ से सोचेंगे और इस कार्यदिशा के आसन्न विनाशकारी नतीजों को हक़ीक़त में तब्दील होने से रोकेंगे। ●

हमारी बातों के मुख्य बिन्दु

जब बहस में तर्क समाप्त हो जायें और किसी तार्किक बात का जवाब न रह जाये तो तर्क में हार चुके और बहस से भागने वाले पक्ष के पास एक ही विकल्प होता है – विरोधी पक्ष के बारे में झूठ बोलना, कुत्सा-प्रचार करना और उसके तर्कों को विकृत करना। कुछ ऐसा ही भाषा के प्रश्न पर जारी इस बहस में भी किया जा रहा है। बहस से देर से परिचित होने वाले या हमारी सारी पोस्टों को पूरा न पढ़ सकने वाले पाठकों के लिए हम अपने मुख्य तर्कों को फिर से संक्षेप में, बिन्दुवार रख दे रहे हैं।

● **सम्पादक मण्डल, 4 नवम्बर 2019**

कल (28 अक्टूबर) आह्वान के पेज पर राज्यों के भाषाई पुनर्गठन को दोबारा करने की माँग, हरियाणा में भाषाई समुदायों के अनुपात और वहाँ आम तौर पर भाषा के प्रश्न पर एक पोस्ट डाली गयी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ लोग पोस्ट को पूरा पढ़े बग़ैर अपनी भावनाओं को आहत कर बैठे हैं और यह आरोप लगा बैठे हैं कि इस पोस्ट में अमित शाह की सोच झलक रही है ('एक देश, एक भाषा')। ऐसे आधारहीन आरोप पर तो सफ़ाई देना भी बेकार है, क्योंकि हम अमित शाह के हालिया बयान के आते ही सबसे पहले निन्दा करने वाले राजनीतिक समूहों में से एक थे। कुछ अन्य लोग भी हैं जो इसे पंजाबी और हिन्दी के वर्चस्व के बीच संघर्ष के रूप में व्याख्यायित कर रहे हैं। उनसे आग्रह है कि एक बार पूरी पोस्ट को दोबारा संजीदगी से आद्योपान्त पढ़ें और उसके बाद टिप्पणी करें। **पूरी पोस्ट पढ़ने का धैर्य न रखने वाले साथियों के लिए हम इस पोस्ट के मुख्य बिन्दु संक्षेप में यहाँ रख दे रहे हैं, ताकि यह स्पष्ट रहे कि हम क्या कह रहे हैं और क्या नहीं।**

1) हर व्यक्ति को, चाहे वह किसी भी राज्य में हो, अपनी मातृभाषा में शिक्षण-प्रशिक्षण व सभी प्रकार के सरकारी कामकाज का अधिकार होना चाहिए। जहाँ पर भी ऐसा नहीं हो रहा है, या किसी भी रूप में भाषा के आधार पर भेदभाव हो रहा है, वहाँ उसके विरुद्ध संघर्ष करना कम्युनिस्टों का कर्तव्य है।

2) हम यह ग़लत मानते हैं कि किसी देश या किसी प्रान्त में भी किसी भाषा के वर्चस्व को स्थापित किया जाये। एक भाषा के वर्चस्व का अर्थ ही है अन्य भाषाओं का दमन। यानी **किसी राज्य में सारा शिक्षण-प्रशिक्षण व सरकारी कामकाज सिर्फ़ बहुसंख्यक आबादी की भाषा में करने की माँग उठाना ही ग़ैर-कम्युनिस्ट है और एक विशिष्ट प्रकार के राष्ट्रवादी विचलन को प्रदर्शित करता है।**

3) लेकिन **इस प्रश्न को एक पूँजीवादी देश के भीतर प्रान्तों की प्रशासनिक सीमाओं से जोड़कर आज यह माँग उठाना कि भाषाई आधार पर राज्यों का फिर से पुनर्गठन किया जाये, अनैतिहासिक और अप्रासंगिक है, विशेष तौर पर तब जबकि यह आम मेहनतकश जनता की कोई माँग ही नहीं है।** ऐसा नहीं कि आम जनता हमेशा स्वतःस्फूर्त रूप से सही माँग ही उठाती है, कई बार वह प्रतिक्रियावादी माँग भी उठा सकती है, जिस सूरत में क्रान्तिकारी अगुवा तत्वों का कार्यभार होता है धैर्य के साथ जनता का राजनीतिक शिक्षण करना। लेकिन इस मामले में तो यह स्वतःस्फूर्त माँग भी नहीं है। ऐसे में यह माँग उठाना आम मेहनतकश जनता को आपस में एक ग़ैर-मुद्दे पर लड़ायेगा और पूँजीपति वर्ग को अवसर देगा कि वह इस बँटवारे को और हवा दे।

4) बागड़ी बोली की सापेक्षिक रूप से अधिक निकटता पंजाबी नहीं बल्कि हरियाणवी व राजस्थानी से बनती है, हालाँकि यह तीनों के बीच की सेतु बोली भी कही जाती है। इस बारे में हमारे नोट (28 अक्टूबर) में सन्दर्भ समेत ब्यौरे दिये गये हैं।

5) हरियाणा में 30 प्रतिशत आबादी की भाषा किसी भी आँकड़े के अनुसार पंजाबी नहीं है। बिना किसी स्रोत के, कुछ लोगों के इम्प्रेशन्स के आधार पर ऐसा आँकड़ा पेश करना ग़लत है। सरकारी आँकड़ों की सटीकता में कुछ कमी-बेशी हो सकती है, मगर 7 से 10 प्रतिशत और 30 प्रतिशत का अन्तर सम्भव नहीं है। यह मनोगतवाद है, जो कि इस मामले में बिग नेशन शॉविनिज़्म से प्रभावित है।

6) हर बोली को भाषा के रूप में विकसित नहीं किया जा सकता है। वास्तव में, विभिन्न भाषाएँ कई बोलियों के ऐतिहासिक और वैज्ञानिक अमूर्तीकरण से जन्म लेती हैं और बाद में वे बोलियाँ उन भाषाओं के साथ-साथ अस्तित्वमान रह सकती हैं। लेकिन यह तर्क ही अनैतिहासिक और प्रतिक्रियावादी है कि ऐतिहासिक प्रक्रिया में जो बोलियाँ भाषा के रूप में विकसित नहीं हो सकीं, उन सभी को आज कम्युनिस्ट बैठकर भाषा के रूप में विकसित करें। दूसरी

बात, जिन कतिपय कॉमरेडों पर यह टिप्पणी की गयी है, वे अपने इस ग़लत तर्क को भी केवल हिन्दी भाषा की तमाम बोलियों पर लागू कर रहे हैं, लेकिन पंजाबी भाषा की तमाम बोलियों पर नहीं। ईमानदारी का तकाज़ा होता कि वे पंजाबी भाषा की सभी बोलियों को भी स्वतंत्र भाषा के रूप में विकसित करने की बात उठाते और इस काम में दिलोजान से लग जाते। तब उन्हें शायद ख़ुद ही समझ आ जाता कि उनका यह तर्क कितना बेतुका है।

7) पंजाबीभाषी समुदाय हरियाणा में कोई दमित समुदाय/राष्ट्रीयता नहीं है। इसके बारे में, ठोस तर्क व तथ्य नोट में मुहैया कराये गये हैं।

8) ये कतिपय कॉमरेड मातृभाषा के प्रति अपना प्रेम केवल पंजाबी भाषा के सन्दर्भ में ही रखते प्रतीत होते हैं, क्योंकि **यदि आम तौर पर सभी नागरिकों को मातृभाषा में शिक्षण-प्रशिक्षण और सरकारी काम-काज की हिमायत की जा रही होती, तो यह माँग ही नहीं उठायी जा सकती कि पंजाब में केवल पंजाबी भाषा में ही हर कामकाज होना चाहिए।** पंजाब में आज प्रवासी मज़दूरों की तादाद क़रीब 27 लाख पहुँच रही है; साथ ही अबोहर-फाजिल्का और चण्डीगढ़ आदि में हिन्दीभाषी या तो विचारणीय अल्पसंख्या हैं या बहुसंख्या। उनके लिए हिन्दी भाषा में पढ़ने-लिखने व सरकारी कामकाज के विकल्प को मौजूद रखने की माँग क्यों नहीं की जा रही है? यह वास्तव में भाषाई वर्चस्ववाद के सिद्धान्त की ओर ले जाता है।

9) अन्त में, नोट में कतिपय कॉमरेडों की इस प्रवृत्ति पर टिप्पणी की गयी है जो पहले महापंजाब (1947 के पहले वाला, या 1966 के पहले वाला) के नक़्शे पर आँसू बहा रही थी, फिर 1966 के राज्यों के पुनर्गठन को ग़लत ठहरा रही थी और अब नये सिरे से राज्यों के पुनर्गठन की बात कर रही है, जो कि न तो आज जनता की कोई माँग है और न ही इस पर कोई स्वतःस्फूर्त आन्दोलन है। ऐसे में, यह अपवादस्वरूप स्थिति में सम्भव है कि अस्मितावादी तरीक़े से इस माँग को हवा दे दी जाये और फिर पूँजीवादी चुनावी दल इसे ले उड़ें और जनता के बीच बँटवारा पैदा कर दें। क्योंकि **यदि वर्गीय अन्तरविरोध सही राजनीतिक अभिव्यक्ति नहीं पाते, तो उन्हें ग़लत अभिव्यक्ति देना या उन्हें भाषाई, जातिगत, नस्ली या राष्ट्रीय स्वरूप में मिसआर्टिक्युलेट करने की एक सम्भावना हमेशा मौजूद ही रहती है, चाहे क्षीण रूप में ही सही। लेकिन यह कार्य यदि कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी करें, तो निहायत अफ़सोसनाक बात होती है।**

●

हरियाणा में पंजाबी भाषा के प्रश्न पर...

(पेज 59 से जारी)

50 पौधी (पंजाबी की एक बोली) बोलने वाले गाँवों को लेकर चण्डीगढ़ बनाया गया था। लेकिन **इतिहास में पीछे नहीं जाया जा सकता।** जो ऐसे तर्क की बात करते हैं उन्हें इस बात का भी समर्थन करना चाहिए कि ऐतिहासिक तौर पर फ़िलिस्तीन-इज़रायल से विस्थापित हुए यहूदियों को वहाँ बसाया जाना चाहिए और उनकी ऐतिहासिक भाषा यहूदी को ऐसे राज्य की राजकीय भाषा बनाया जाना चाहिए। इतिहास में आप कहाँ और कितने पीछे जायेंगे? **लेकिन सबसे महत्वपूर्ण बात जिस पर कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को ध्यान देना चाहिए वह यह है कि आज चण्डीगढ़ के व्यापक जनसमुदायों की यह माँग ही नहीं है। तो फिर ऐसी बात केवल राष्ट्रवादी विचलन के कारण ही किसी कम्युनिस्ट के दिमाग़ में आ सकती है।**

दूसरा, क्या पंजाबी भाषा के आधार पर एक-एक व्यक्ति को चुन-चुनकर पंजाब में शामिल किया जाना चाहिए? या क्या पंजाब के एक-एक हिन्दीभाषी को चुनकर हरियाणा या राजस्थान में शामिल किया जाना चाहिए? **क्या यह आम जनमानस की माँग है या फिर आपके ही दिमाग़ के राष्ट्रवादी व भाषाई कट्टरतावादी विचलन की पैदावार है? वैसे तो अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर भी कोई विभाजन यदि होता है तो कुछ आबादी अपनी मर्ज़ी और मजबूरी के चलते भी इधर-उधर रह जाती है लेकिन भारत में ऐसे लोगों को ऐसा कौन -सा असुरक्षा-बोध खाये जा रहा है कि एक और विडम्बना रचने की पूर्वपीठिका निर्माण की तैयारी में आप लगे हैं?** इन लोगों के तर्क पर ही चलें तो एक सवाल बनता है कि ऐसे लोगों को विचारणीय पंजाबीभाषी आबादी वाला सिरसा तो दिख गया लेकिन अबोहर-फाजिल्का और उस इलाक़े के 83 हिन्दी भाषी गाँव क्यों नहीं दिखे? क्या राष्ट्रवादी विचलन का चश्मा यह देखने की इजाज़त नहीं देता? निश्चित तौर पर भाषाई आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की माँग आज एक प्रतिक्रियावादी माँग है, विशेष तौर पर इसलिए कि यह आम मेहनतकश जनता की माँग नहीं है। ऐसा करना शासक वर्ग के काम को आसान बनाना है तथा स्वयं ही जनता के बीच बँटवारे के बीज बोने के समान है। आज न केवल हरियाणा बल्कि पंजाब के भी लोगों के बीच भाषाई आधार पर पुनर्विभाजन जैसी कोई माँग नहीं है। ऐसे में बिग नेशन शॉविनिज़्म और काल्पनिक नॉस्टैल्जिया की ढफ़ली उठाकर पुनर्विभाजन का राग अलापना कहीं से भी जायज़ नहीं है।

इस प्रकार के विचारों की एक पूरी श्रृंखला है जिसके एक छोटे-से हिस्से पर ही हम यहाँ टिप्पणी कर पाये हैं। आगे इस पूरी श्रृंखला के पीछे मौजूद पहुँच और पद्धति पर हम विस्तार से अपनी बात रखेंगे, जिसमें कि भाषा का पूरा प्रश्न और मार्क्सवादी-लेनिनवादी पहुँच के सवाल पर चर्चा करेंगे।

●

5 नवम्बर 2019 को 'आह्वान' के फ़ेसबुक पेज पर डाली गयी टिप्पणी

● सम्पादक मण्डल

आह्वान के फ़ेसबुक पेज पर भाषा के सवाल पर बहस में अपना पक्ष रखते हुए हमने शुरू से दूसरे पक्ष के अन्धराष्ट्रवादी नॉस्टैल्जिया, सस्ते लोकरंजकतावाद और भाषाई अस्मितावाद को अपनी आलोचना का निशाना बनाया है। हमारे द्वारा तमाम उदाहरण दिये जाने के बावजूद दूसरा पक्ष बार-बार इस बात को गोल-मोल या सीधे इन्कार करने की कोशिश करता रहा कि वह तो 'महापंजाब' जैसे किसी नॉस्टैल्जिया की बात करता ही नहीं। मगर हमारी आलोचनाओं का कोई जवाब न दे पाने की हालत में अपनी पोज़ीशन को किसी-न-किसी तरह से सही ठहराने के चक्कर में उन्हें जो कसरतें करनी पड़ रही हैं, उसके चलते भाषाई उत्पीड़न और भाषाई ग़ैर-बराबरी के झोले में छिपे उनके वैचारिक भटकाव लुढ़क-लुढ़ककर झोले से बाहर आ जा रहे हैं।

हमने अपनी कई पोस्ट में "महापंजाब" की याद में टसुए बहाने की प्रवृत्ति या 1966 के राज्यों के भाषावार पुनर्गठन को फिर से किये जाने की माँग की सख़्त आलोचना रखी थी जिस पर दूसरे पक्ष का कहना होता था कि हम ऐसी कोई बात कह ही नहीं रहे हैं। महापंजाब माँग कौन रहा है? हम तो बस दूसरों के वीडियो अपनी आधिकारिक पत्रिका के पेज से शेयर कर रहे हैं और शेयर करने का मतलब वीडियो में प्रस्तुत विचारों को मानना तो नहीं होता?! (इस बात पर वे चुप मार जाते थे कि किसी तथ्य की प्रस्तुति मूल्यविहीन नहीं होती और बिना किसी टिप्पणी के वीडियो को शेयर करने का मतलब उसमें प्रस्तुत विचारों का समर्थन ही होता है।)

मगर अभी उनकी तरफ़ से लिखी गयी एक पोस्ट में आख़िर दिल की बात ज़ुबाँ पर आ ही गयी! पोस्ट में कहा गया है कि अगर पश्चिमी और पूर्वी जर्मनी और उत्तरी और दक्षिणी वियतनाम एक हो सकते हैं और कोरिया के एकीकरण की प्रबल सम्भावना है, तो भला पंजाब (हिन्दुस्तानी पंजाब और पाकिस्तानी पंजाब) क्यों नहीं एक हो सकता? और फिर ऐसे "बौने बुद्धिजीवियों" पर क्षोभ व्यक्त किया गया है जो ऐसी एकता की चाहत नहीं रखते। पहली बात, हर कम्युनिस्ट पंजाब ही क्यों, पूरे उपमहाद्वीप के फिर से एक होने की ख़्वाहिश रहता है। पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में तमाम राष्ट्रीयताओं का एक साझा समाजवादी संघ बने यह हर सच्चे कम्युनिस्ट की दिली इच्छा होगी। लेकिन कम्युनिस्ट, अगर वे वाक़ई कम्युनिस्ट हैं तो, यह भी जानते हैं कि तीनों मुल्क़ों में समाजवादी क्रान्ति के कामयाब होने के बाद ही ऐसी एकता मुमकिन है। उसके पहले ऐसे ख़याली पुलाव पकाने और उसकी याद में आँसू बहाने की हरकतों पर कोई भी कम्युनिस्ट हँसेगा ही। और साथ ही, चिन्तित भी होगा, क्योंकि इस तरह के विचार दरअसल ऐसी एकता की सम्भावना को सच बनाने की राह पर चलने वाले आन्दोलन को भटकाव और बिखराव के रास्ते पर ही ले जायेंगे।

जर्मनी का उदाहरण देने वाले यह भूल गये कि उसका एकीकरण दोनों देशों की जनता की फिर से मिल जाने की इच्छा का नतीजा नहीं था, बल्कि नकली समाजवाद के मॉडल के ढहने और साम्राज्यवादी पूँजी की जीत का नतीजा था। बर्लिन की दीवार का गिरना पूरी दुनिया में भूमण्डलीकरण की नीतियों के विजय अभियान का एक प्रतीक यूँ ही नहीं बन गया था। वियतनाम का एकीकरण क्रान्ति की जीत का नतीजा था और अगर कोरिया का आज फिर से एकीकरण होता है (जिसकी सम्भावना निकट भविष्य में कम ही है), तो यह भी एक बार फिर नकली समाजवाद की पराजय और साम्राज्यवादी पूँजी की जीत का नतीजा होगा।

लगातार पंजाब के साथ होने वाले अन्याय और पंजाब के एक होने की बातें करने वाले जब इस बात का कोई तार्किक जवाब नहीं दे पाये कि 1947 में जब पूरे देश के साथ भयंकर अन्याय हुआ तो केवल पंजाब की बात उठाने का क्या मतलब है, तो अब लीपापोती के प्रयास में वे पंजाबी क़ौम के साथ बंगाली क़ौम का भी नाम लेने लगे हैं। मगर इतना ही क्यों, क्या 1947 में कश्मीर के टुकड़े नहीं हुए? क्या सीमा के दोनों तरफ़ उजड़ने वाली करोड़ों की आबादी के साथ अन्याय नहीं हुआ? पूरे उपमहाद्वीप की जनता क्या उपनिवेशवादियों के उस अन्याय की क़ीमत आज तक नहीं चुका रही है? मगर इन कॉमरेडों को केवल पंजाब

के साथ होने वाले अन्याय को 'अनडू' (undo) करने की क्यों पड़ी हुई है?

एक और बात भी है! जर्मनी का एकीकरण दो मुल्क़ों का एकीकरण था – ऐसा नहीं था कि वहाँ सैक्सनी और लोअर सैक्सनी प्रान्तों के लोग अलग से अपने बँटवारे पर रुदाली गा रहे थे और महासैक्सनी बनाने के लिए आहें भर रहे थे।

और अगर तमाम आलोचनाओं के बावजूद उन्हें लगता है कि अपने-अपने देशों के भीतर समाजवादी क्रान्ति के लिए काम करने के बजाय भारत, पाकिस्तान और बंगलादेश में "टुकड़े-टुकड़े हो गयी क़ौमों" को सबसे पहले आपस में मिल जाने की कोशिशें करनी चाहिए तो उन्हें शर्माने के बजाय इसी माँग का झण्डा थामकर आगे बढ़ना चाहिए।

इन्होंने भाषा के आधार पर 'पंजाब पुनर्गठन एक्ट' के तहत 1966 में हुए पंजाब, हरियाणा व हिमाचल प्रदेश के गठन को अन्यायपूर्ण बताया और बाक़ायदा यह माँग उठा दी कि राज्यों का पुनर्गठन फिर से किया जाना चाहिए (ज़ाहिर है कि वे केवल पंजाब को उसका "हक़" दिलाने के मक़सद से ऐसी माँग उठा रहे हैं)। चण्डीगढ़ को हरियाणा-पंजाब की संयुक्त राजधानी बनाये जाने को वे "क़ौम से उसकी राजधानी छीन लिये जाने" की धक्केशाही क़रार देते हैं। यह सच है कि 58 पंजाबी भाषी गाँवों को विस्थापित करके चण्डीगढ़ बना है लेकिन इतिहास में हर ग़लती को पीछे जाकर दुरुस्त नहीं किया जा सकता। अगर इसी तर्क को आगे बढ़ाया जाये तो बात बहुत दूर तक जायेगी। इतिहास के एक दौर में यहूदियों को इज़राइल-फ़िलिस्तीन के इलाक़े से उजड़कर जाना पड़ा था, तो इनके तर्क से तो 1948 में इज़राइल को फिर से "बसाना" और फ़िलिस्तीनियों को उजाड़ना सही होना चाहिए!? पूँजीवादी विकास के क्रम में विशाल कारख़ाने लगाने या औद्योगिक टाउनशिप बसाने के लिए दर्जनों गाँवों को, वहाँ के मूल निवासियों को उजाड़ा गया; तो क्या उन सभी जगहों पर इतिहास का चक्का उल्टा घुमाया जायेगा? इतिहास की ग़लतियों को दुरुस्त करने की यह पूरी सोच प्रतिक्रियावादी है। कभी 1966 के विभाजन पर तो कभी चण्डीगढ़ पर और कभी भाषाई आधार पर दोबारा बँटवारे की माँग पर अटक जाने की प्रवृत्ति को पंजाबी 'बिगनेशन शॉविनिज़्म' नहीं, तो भला और क्या कहा जायेगा? महापंजाब की लालसा करने को "अन्धराष्ट्रवादी नॉस्टैल्जिया" नहीं तो भला और क्या कहा जायेगा?

आप कहते हैं कि "अगर पंजाब का फिर से एकीकरण होता है तो इससे किसे तकलीफ़ हो सकती है?" दरअसल सवाल यह होना चाहिए कि पूरे उपमहाद्वीप के एकीकरण के बजाय केवल पंजाब के एकीकरण के बारे में सोचने वाले किस तरह के कम्युनिस्ट हैं। वैसे किसी भी तरह के एकीकरण को लेकर हवाई क़िले बनाने और आह-वाह करने वाले भी कम्युनिस्ट नहीं हो सकते। कम्युनिस्ट यथार्थ की ठोस ज़मीन पर खड़े होकर सोचते और काम करते हैं, भावुक विचारों के बादलों में बैठकर गगन विहार नहीं किया करते।

कम्युनिस्टों को साफ़गो भी होना चाहिए। जब आपका शुरू से यही मानना था तो खुलकर यही कहना चाहिए था कि हमको बड़ा पंजाब चाहिए, इतने छोटे-से पंजाब में हमसे क्रान्ति नहीं हो पा रही। तब भाषा और बोलियों आदि पर घुमा-घुमाकर नाक पकड़ने की कोई ज़रूरत नहीं पड़ती। जैसाकि एक साथी ने कहा है, "फिर तो माँ बोली सम्मेलन नहीं बल्कि वाघा बॉर्डर पर महापंजाब सम्मेलन ही बुला लिया होता!" उसके छाते के नीचे आपकी सारी माँगें ज़्यादा अच्छी तरह आ जातीं।

एक बार फिर दोहरा दें कि हम पंजाब और बंगाल ही नहीं, पूरे भारतीय उपमहाद्वीप के एकीकरण के समर्थक हैं। हम पूँजीवाद और साम्राज्यवाद द्वारा खींची गयी राष्ट्रों की नकली सीमाओं के अन्ततः ख़ात्मे का सपना देखते हैं। लेकिन हम जानते हैं कि यह तभी सम्भव है जब पूरे भारतीय उपमहाद्वीप की मेहनतकश जनता उठ खड़ी होगी और पूँजीवाद-साम्राज्यवाद को अपनी सरज़मीं से उखाड़ फेंकेगी। केवल तभी तमाम राष्ट्रीयताओं के साझे संघ की स्थापना सम्भव है। भारतीय और पाकिस्तानी पूँजीवादी राज्यसत्ताओं के रहते भला कौन-से जादू से पंजाब एक हो जायेगा? आने वाले दशकों में यह सपना हक़ीक़त तभी बन सकेगा जब आज हवाई मुद्दे खड़े करके मेहनतकशों के बीच बँटवारे पैदा करने के बजाय लोगों को उनकी ज़िन्दगी के वास्तविक मुद्दों पर एकजुट किया जाये। ऐसा न करके, अन्धराष्ट्रवाद, अस्मितावाद और लोकरंजकता को हवा देने वाले दरअसल इस सपने के ख़िलाफ़ ही काम कर रहे हैं। उनकी नासमझी पर हँसी नहीं, तरस आता है और चिन्ता होती है।

●

भाषाई अस्मितावादियों और राष्ट्रवादियों के नये गहने

मगर अफ़सोस, तर्कविहीनता के नंगेपन को गहनों से नहीं ढँका जा सकता!

● **सम्पादक मण्डल, 7 नवम्बर 2019**

जब कोई अपनी मूर्खतापूर्ण बातों को सिद्ध करने के लिए कुतर्क करने लग जाये तो उसे कई दिक़्क़तें आती हैं। पहली तो यह कि वह भूल जाता है कि उसने पहले कौन-सा कुतर्क दिया था। दूसरा यह कि उसे तरह-तरह के द्रविड़ प्राणायाम करने पड़ते हैं। हमारे भाषाई अस्मितावादियों और राष्ट्रवादियों की भी ऐसी ही स्थिति हो गयी है।

पहले इनका कहना था कि वे "महापंजाब" नहीं माँग रहे हैं। अब अपने कुतर्कों को बचाने के लिए नये-नये कुतर्कों की झड़ी लगाते-लगाते वे यह पूछने को मजबूर हो गये कि अगर कोई सीमा के दोनों पार के पंजाबों को एक करने की बात करता है, तो इसमें दिक़्क़त क्या है? मतलब अगर कोई "महापंजाब" बनाने की माँग करता है तो इसमें क्या दिक़्क़त है? तो महीने भर से यह क्यों कह रहे थे कि हम तो "महापंजाब" माँग ही नहीं रहे हैं? अगर कोई दिक़्क़त ही नहीं है, तो माँग ही लीजिए!

दूसरी बात, कोई भी कम्युनिस्ट निश्चय ही चाहेगा कि बाँट दिये गये लोग एक हो जायें। लेकिन भारत के सन्दर्भ में तो पूरे विभाजन को ही पलटने की बात होगी, सिर्फ़ पंजाब या बंगाल के विभाजन को नहीं। कोई भी कम्युनिस्ट तो कम-से-कम ऐसा ही करेगा। बंगाल का नाम भी इन्होंने बस इसलिए जोड़ दिया कि अपने पंजाबी राष्ट्रवाद को छिपा सकें।

तीसरी बात, पंजाब के एकीकरण की तुलना जर्मनी, वियतनाम, कोरिया आदि के हो चुके या सम्भावित एकीकरणों से करके हमारे भाषाई अस्मितावादियों ने यह भी दिखला दिया कि न तो इन्हें इतिहास की कोई समझ है और न ही राजनीति की। ये कैसे भी उल्टी-सीधी तुलनाएँ करके अपनी ग़लत कार्यदिशा (लाइन) को सही दिखलाने के प्रयासों में लगे हुए हैं।

अब आते हैं हमारे भाषाई अस्मितावादियों के नये गहने पर। इन्होंने माओ के एक उद्धरण को पेश किया है जिसमें माओ कह रहे हैं कि "चीनी कम्युनिस्ट महान चीनी क़ौम का हिस्सा हैं" और इसके आधार पर इन्होंने पूछा है कि कौन-सा कम्युनिस्ट अपनी क़ौम पर गर्व नहीं करेगा! इसे कहते हैं विरोधी के तर्कों का जवाब देने की बजाय किसी प्रसंगेतर उद्धरण के पीछे छिपकर भागना। क्या बहस कभी भी इस बात पर थी कि अपनी क़ौम पर गर्व करना चाहिए या नहीं? नहीं! फिर इस उद्धरण का मक़सद? यह तोहमत थोपना कि हम ऐसा कह रहे हैं कि अपनी क़ौम पर गर्व नहीं करना चाहिए। इस रूप में हर क़ौम ही महान होती है, क्योंकि हमेशा ही उसके कुछ महान सकारात्मक होते हैं। लेकिन पहली बात तो यह है कि माओ के लिए कम्युनिस्ट का काम अपनी क़ौम पर गर्व करना या शर्म करना नहीं होता। **माओ लिखते हैं :**

"हमें कभी भी बड़ी शक्ति के अन्धराष्ट्रवाद का अहंकारी रवैया नहीं अपनाना चाहिए और हमारी क्रान्ति की विजय तथा हमारे निर्माण की कुछ उपलब्धियों के कारण घमण्डी नहीं हो जाना चाहिए। हर राष्ट्र, चाहे वह छोटा हो या बड़ा, उसकी कुछ अच्छाइयाँ और कुछ कमज़ोरियाँ होती हैं।" (माओ, 'चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की आठवीं राष्ट्रीय कांग्रेस में उद्घाटन भाषण', 15 सितम्बर 1956)

माओ मानते हैं कि हर क़ौम के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों ही होते हैं और इसीलिए कम्युनिस्ट उस पर गर्व या शर्म नहीं करते। राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में कम्युनिस्टों का काम एक ऐसी राष्ट्रीय संस्कृति का निर्माण होता है, जिसमें अपनी क़ौम के सकारात्मक हों और अन्य क़ौमों की संस्कृतियों के भी सकारात्मक हों। लेकिन इससे भी प्रमुख बात यह है कि माओ के लिए जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में राष्ट्रीय संस्कृति का अर्थ था साम्राज्यवाद-विरोधी सामन्तवाद-विरोधी संस्कृति। वे लिखते हैं :

"नव-जनवादी संस्कृति राष्ट्रीय है। यह साम्राज्यवादी उत्पीड़न का विरोध करती है और चीनी राष्ट्र के सम्मान और स्वतंत्रता का समर्थन करती है।" (माओ, 'नव-जनवाद के बारे में')

दूसरी बात, चीन देश में कोई एक क़ौम ही नहीं थी और न ही माओ यहाँ चीन की प्रमुख राष्ट्रीयता के बारे में ही बात कर रहे हैं। वे चीनी क़ौम की बात यहाँ साम्राज्यवाद द्वारा उत्पीड़ित एक देश के रूप में कर रहे हैं, जिसमें कई राष्ट्रीयताएँ हैं। यह साम्राज्यवादी दमन ही उन्हें एक क़ौम के रूप में संघटित करता है। माओ लिखते हैं :

"यहाँ रहने वाले दस में से नौ लोग हान राष्ट्रीयता के हैं। यहाँ मंगोल, हुई, तिब्बती, उइगुर, मियाओ, यी, चुआङ, चुङचिया और कोरियाई राष्ट्रीयताओं सहित बीसियों अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताएँ भी हैं, जिन सभी का लम्बा इतिहास है, हालाँकि वे सांस्कृतिक विकास के अलग-अलग स्तरों पर हैं। इस प्रकार चीन अनेक राष्ट्रीयताओं से बनी विशाल आबादी वाला देश है।" (माओ, 'चीनी कम्युनिस्ट पार्टी और चीनी क्रान्ति')

इसी रचना में माओ राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का चरित्र भी बताते हैं।

"निस्सन्देह रूप से, मुख्य कार्यभार इन दो दुश्मनों पर चोट करना है, विदेशी साम्राज्यवादी उत्पीड़न को उखाड़ फेंकने के लिए राष्ट्रीय क्रान्ति सम्पन्न करना और सामन्ती भूस्वामियों के

उत्पीड़न को उखाड़ फेंकने के लिए जनवादी क्रान्ति सम्पन्न करना, जिसमें प्राथमिक और सर्वोपरि कार्यभार है साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने के लिए राष्ट्रीय क्रान्ति।" *(वही)*

स्पष्ट है कि माओ के लिए एक साझा चीनी क़ौम का अर्थ इसी रूप में है कि वह साम्राज्यवाद द्वारा दमित है। अपने आप में क़ौमियत उनके लिए जश्न मनाने का मुद्दा नहीं है और समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में तो इसका प्रश्न ही नहीं पैदा होता है। राष्ट्रीय संस्कृति के बारे में निम्न उद्धरण से यह बात और स्पष्ट हो जाती है :

"एक राष्ट्रीय, वैज्ञानिक और जन संस्कृति – ऐसी है जनता की साम्राज्यवाद-विरोधी और सामन्तवाद-विरोधी संस्कृति, नव जनवाद की संस्कृति, चीनी राष्ट्र की नयी संस्कृति।" (उपरोक्त)

यानी, राष्ट्रीय संस्कृति का अर्थ जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में भी माओ के लिए राष्ट्र की सम्पूर्ण संस्कृति का जश्न मनाना नहीं था, बल्कि यह राष्ट्रीय संस्कृति इसी रूप में प्रगतिशील हो सकती है कि वह साम्राज्यवाद-विरोधी और सामन्तवाद-विरोधी हो और साथ ही वैज्ञानिक व जनवादी हो। और यह स्वतः मौजूद नहीं होती है, बल्कि कम्युनिस्टों के नेतृत्व में निर्मित होती है। इसे समझने के लिए आप 'नवजनवाद के बारे में' पढ़ सकते हैं।

लेकिन **हमारे भाषाई अस्मितावादियों ने तो माओ को राष्ट्रवादी ही बना दिया है!**

माओ हान बिग शॉविनिस्ट राष्ट्रवाद के साथ ही अन्य राष्ट्रीयताओं में पनपने वाले राष्ट्रवाद को भी एक दुश्मन ही मानते थे। माओ लिखते हैं :

"इस प्रश्न को हल करने की कुंजी है हान अन्धराष्ट्रवाद को दूर करना। **साथ ही जहाँ कहीं अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताओं में स्थानीय-राष्ट्रीय अन्धराष्ट्रवाद (local-nationality chauvinism) मौजूद हो, वहाँ उसे दूर करने के प्रयास भी किये जाने चाहिए। विभिन्न जातियों की एकता के लिए हान अन्धराष्ट्रवाद और स्थानीय-राष्ट्रीय अन्धराष्ट्रवाद, दोनों ही हानिकर होते हैं। यह जनता के बीच का एक अन्तरविरोध है जिसे हल किया जाना चाहिए।**" (माओ, 'जनता के बीच के अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करने के बारे में')

हमने हिन्दी भाषा को राष्ट्रीय भाषा का दर्जा दिये जाने पर आये अमित शाह के बयान पर तत्काल आलोचना और विरोध किया था। लेकिन साथ ही हम किसी भी प्रकार के राष्ट्रवाद या राष्ट्रवादी विचलन का विरोध करते हैं। लेकिन हमारे भाषाई अस्मितावादियों व राष्ट्रवादियों के लिए केवल भारतीय राष्ट्रवाद ख़तरा है (जिसकी वाहक उनके लिए हिन्दी भाषा है!) लेकिन पंजाबी राष्ट्रवाद और बिग नेशन शॉविनिज़्म नहीं है! होगा भी कैसे? उसके नुमाइन्दे तो ख़ुद ये ही लोग बने हुए हैं! लेकिन माओ के एक उद्धरण की ग़लत व्याख्या करके वे अपने राष्ट्रवादी विचलन और भाषाई अस्मितावाद को सही ठहराने के लिए द्रविड़ प्राणायाम किये जा रहे हैं। इनकी यह सोच अन्त में जनता के बीच के दोस्ताना अन्तरविरोधों को भी दुश्मनाना अन्तरविरोध में तब्दील कर देगी।

हमने इस बहस के शुरू में जब कहा था कि स्तालिन ने बताया है कि राष्ट्रीय प्रश्न का सारतत्व भूमि का प्रश्न और/या औपनिवेशीकरण का प्रश्न होता है, तो इन्होंने आरोप लगाया था कि हम झूठ बोल रहे हैं और स्तालिन ने ऐसा कहीं नहीं कहा है। हमने उस वक़्त भी उद्धरणों समेत अपनी बात को पुष्ट किया था, जिस पर हमारे भाषाई अस्मितावादी चुप मार गये। देखें स्तालिन क्या कहते हैं :

"... किसान राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य सेना होते हैं, … किसानों की सेना के बिना कोई शक्तिशाली राष्ट्रीय आन्दोलन नहीं है, न ही हो सकता है। जब यह कहा जाता है कि, ***सार रूप में, राष्ट्रीय प्रश्न किसान प्रश्न है,*** तो उसका यही मतलब होता है।" (Stalin, Works, Eng. ed., FLPH, Moscow, 1954, Vol. VII, pp. 71-72)

आगे हमारे भाषाई अस्मितावादी कहते हैं कि जब मार्क्सवादी साहित्य में रूसी सर्वहारा, चीनी सर्वहारा, जर्मन सर्वहारा लिखा जाता है तो इसका अर्थ होता है कि सर्वहारा वर्ग का कोई राष्ट्र होता है। निश्चित तौर पर दुनिया जब तक राष्ट्रों में बँटी है, तब तक किसी भी वर्ग का व्यक्ति चाहे वह सर्वहारा हो या बुर्जुआ, जन्म से तथा स्थान व भाषा से किसी न किसी राष्ट्र का होगा। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि सर्वहारा वर्ग का कोई राष्ट्र होता है। मार्क्स व एंगेल्स लिखते हैं :

"कम्युनिस्टों और दूसरी मज़दूर पार्टियों में सिर्फ़ यह अन्तर है कि : 1. विभिन्न देशों के सर्वहाराओं के राष्ट्रीय संघर्षों में राष्ट्रीयता के सभी भेदभावों को छोड़कर वे पूरे सर्वहारा वर्ग के सामान्य हितों का पता लगाते हैं और उन्हें सामने लाते हैं...

"कम्युनिस्टों पर यह आरोप भी लगाया जाता है कि वे देशों और राष्ट्रीयता को मिटा देना चाहते हैं।

"मज़दूरों का कोई स्वदेश नहीं है। जो उनके पास है ही नहीं उसे उनसे छीना नहीं जा सकता है। चूँकि सर्वहारा वर्ग को सबसे पहले राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त करना है, राष्ट्र में अग्रणी वर्ग का स्थान ग्रहण करना है, ख़ुद अपने को राष्ट्र के रूप में संगठित करना है, अतः इस हद तक वह स्वयं राष्ट्रीय चरित्र रखता है, गोकि इस शब्द के बुर्जुआ अर्थ में नहीं।" (मार्क्स, एंगेल्स, 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषाणपत्र')

चूँकि इन भाषाई अस्मितावादियों ने किताब में "जर्मन सर्वहारा", "रूसी सर्वहारा", "चीनी सर्वहारा" आदि जैसे शब्द पढ़ लिये तो इन्होंने नतीजा निकाल लिया कि सर्वहारा वर्ग का कोई राष्ट्र होता है! सर्वहारा वर्ग सभी राष्ट्रों में है और इस रूप में हर राष्ट्र का सर्वहारा वर्ग है, जिसका पहला कार्यभार अपने राष्ट्र में वर्चस्वकारी बनना होता है, और इस रूप में अपने आपको ही एकमात्र "राष्ट्र" के रूप में संघटित करना होता है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं होता है सर्वहारा वर्ग का कोई राष्ट्र होता

है। यही कारण है कि वह मनुष्य जाति की सार्वभौमिकता की नुमाइन्दगी करता है और इतिहास का सबसे क्रान्तिकारी वर्ग है। यही वजह है कि 'राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग' तो होता है, पर 'राष्ट्रीय सर्वहारा' जैसा कोई वर्ग नहीं होता।

हमारे भाषाई अस्मितावादियों ने लेनिन को उद्धृत करके कहा है कि जो राष्ट्रीय दमन का विरोध नहीं करता, उस कम्युनिस्ट का अन्तरराष्ट्रीयतावाद थोथा है। सही बात है। लेकिन इससे असहमत कौन है? यदि ये कहना चाह रहे हैं कि पंजाबी राष्ट्रीयता दमित राष्ट्रीयता है, तो इस पर केवल हँसा जा सकता है। इन्हें दमित राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय प्रश्न का अर्थ समझने के लिए स्तालिन को पढ़ लेना चाहिए। **और अगर पंजाबी राष्ट्रीयता दमित राष्ट्रीयता है, जैसे कि कश्मीर की राष्ट्रीयता है और उत्तर-पूर्व की राष्ट्रीयताएँ हैं, तो इन्हें किसी भी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक स्वायत्तता की कार्यदिशा (लाइन) नहीं देनी चाहिए जैसे कि ओट्टो बावर दे रहे थे और जिसकी स्तालिन ने कठोर आलोचना की है। इन्हें तो सीधे राष्ट्रीय मुक्ति को अपना लक्ष्य बनाना चाहिए और चार वर्गों का मोर्चा बनाना चाहिए! लेकिन ऐसा ये कर ही नहीं रहे हैं!**

इन भाषाई अस्मितावादियों में से ही एक ने एक नयी अवधारणा पेश की है : **साम्राज्यवादी भाषा की अवधारणा!!** संस्कृति साम्राज्यवादी हो सकती है, राजनीति साम्राज्यवादी हो सकती है, लेकिन भाषा कैसे साम्राज्यवादी हो सकती है? यह मार्क्सवादी दृष्टिकोण तो है ही नहीं। भाषा का कोई वर्ग चरित्र नहीं होता है। यदि किसी भाषा को साम्राज्यवादियों ने हथियार बनाया हो तो भी वह साम्राज्यवादी भाषा नहीं होती है। मिसाल के तौर पर, अंग्रेज़ी साम्राज्यवादी भाषा नहीं है। वह एक भाषा है। ये बात उत्तर-आधुनिकतावादी और उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धान्तों को मानने वाले अस्मितावादी कहते हैं, जिनके अनुसार भाषा स्वयं सत्ता का लोकेशन होती है और भाषा किसी सत्ता की भाषा हो सकती है (लैंग्वेज ऑफ़ पावर!)। मार्क्सवाद का भाषा को लेकर यह नज़रिया ही नहीं है। लेकिन पढ़ने-लिखने से हमारे भाषाई अस्मितावादियों को विशेष तौर पर चिढ़ है। इसलिए सम्भवतः इन्हें यह पता भी नहीं है। इसीलिए यह किसी भाषा को ही साम्राज्यवादी क़रार देकर सोच रहे हैं कि इन्होंने क्या जुझारू क़िस्म का मार्क्सवादी सूत्रीकरण पेश किया है!

मार्क्सवाद-लेनिनवाद हर भाषा की बराबरी की बात करता है और किसी एक भाषा के वर्चस्व के ख़िलाफ़ है। हिन्दी वर्चस्ववाद और पंजाबी वर्चस्ववाद दोनों ही हमारे लिए पराये हैं। लेकिन हमारे भाषाई अस्मितावादी हिन्दी को "हत्यारी भाषा" क़रार देते हैं, क्योंकि वह बोलियों की हत्या करके पैदा हुई है *(हम पहले की पोस्टों में तर्क व तथ्य समेत दिखला चुके हैं कि अपने हिन्दी-विरोध में अन्धे हो चुके इन बन्धुओं को भाषा के इतिहास और सिद्धान्त दोनों के ही बारे में शून्य ज्ञान है)*! लेकिन **भाषा और बोली के अपने इस सिद्धान्त को वह पंजाबी भाषा पर लागू नहीं करते।** हमने पूछा कि पंजाबी भाषा और उसकी तमाम बोलियों में क्या सम्बन्ध है, तो इस पर इन्हें अभी भी सनाका ही मारा हुआ है। उड़ती-उड़ती ख़बर है कि इनका मानना है कि चूँकि पंजाबी भाषा को तमाम पंजाबी बोलियाँ बोलने वाले समझ लेते हैं, इसलिए उनमें वैसा रिश्ता नहीं है! ग़ज़ब तर्क है! अस्मितावाद में बौराये इन लोगों को पता नहीं है कि हिन्दी भाषा परिवार में आने वाली बोलियाँ बोलने वाले भी हिन्दी भाषा को समझ लेते हैं। हर तर्कविहीन अस्मितावादी के समान ये अपने लिए एक्सेप्शनलिज़्म की माँग करते हैं।

अब ज़रा नीचे दिये गये **लेनिन** के उद्धरणों को पढ़ें और सोचें कि क्या यह एकदम सटीकपन के साथ हमारे भाषाई अस्मितावादियों पर लागू नहीं होते?

"रूस में, ख़ासकर 1905 के बाद, जब बुर्जुआ वर्ग के ज़्यादा समझदार सदस्यों को अहसास हुआ कि केवल ताक़त का ज़ोर कारगर नहीं है, तमाम तरह की "प्रगतिशील" बुर्जुआ पार्टियाँ और ग्रुप क़िस्म-क़िस्म के ऐसे बुर्जुआ विचारों और सिद्धान्तों की हिमायत करके मज़दूरों को *बाँटने* के तरीक़े का अधिकाधिक सहारा ले रहे हैं जिनका मक़सद मज़दूर वर्ग के संघर्ष को कमज़ोर करना है।

"ऐसा एक विचार परिशुद्ध (या बारीक – अनु.) राष्ट्रवाद का है, जो सर्वहारा को अनेक सत्याभासी और दिखावटी बहानों से बाँटने और उसमें फूट डालने की हिमायत करता है, जैसे उदाहरण के तौर पर, "राष्ट्रीय संस्कृति", "राष्ट्रीय स्वायत्तता, या स्वतंत्रता", आदि के हितों की रक्षा करना।

"वर्ग-सचेत मज़दूर हर *प्रकार* के राष्ट्रवाद के विरुद्ध लड़ते हैं, भोंड़े, हिंसक, ब्लैक-हण्ड्रेड राष्ट्रवाद के विरुद्ध भी, और उस बेहद बारीक राष्ट्रवाद के विरुद्ध भी **जो राष्ट्रों की समानता की बात ... राष्ट्रीयता के अनुसार मज़दूरों के ध्येय, मज़दूरों के संगठनों और मज़दूर वर्ग के आन्दोलन में फूट डालने के *साथ-साथ* करता है।** राष्ट्रवादी बुर्जुआ वर्ग की सभी क़िस्मों के विपरीत, वर्ग-सचेत मज़दूर, मार्क्सवादियों की हाल की (ग्रीष्म 1913) की कॉन्फ्रेंस के फ़ैसलों पर अमल करते हुए, न केवल राष्ट्रों और भाषाओं की सर्वाधिक सम्पूर्ण, सुसंगत और पूर्णतः क्रियान्वित *समानता* के पक्ष में हैं, बल्कि हर प्रकार के *एकीकृत* सर्वहारा संगठनों में अलग-अलग राष्ट्रीयताओं के मज़दूरों के *समेकीकरण* के भी पक्ष में हैं।

"मार्क्सवाद के राष्ट्रीय कार्यक्रम और किसी भी बुर्जुआ के राष्ट्रीय कार्यक्रम, चाहे वह कितना भी 'उन्नत' क्यों न हो, में मूलभूत फ़र्क़ यही है।" (लेनिन, 'मज़दूरों को बारीक राष्ट्रवाद से भ्रष्ट करना')

आगे देखें :

"राष्ट्रों और भाषाओं की समानता को मान्यता देना मार्क्सवादियों के लिए महत्वपूर्ण है, केवल इसीलिए नहीं क्योंकि

(पेज 73 पर जारी)

भाषाई अस्मितावादियों का नया उत्खनन उर्फ़ बन्दर के हाथ में उस्तरा

● **सम्पादक मण्डल, 8 नवम्बर 2019**

भाषाई अस्मितावादी और लोकरंजकतावादी इन दिनों काफ़ी परेशान हैं और विवेकपूर्वक सोचने की जगह अपनी अवस्थिति को किसी-न-किसी तरह से सही साबित करने की कोशिश में एक के बाद एक बचकानी हरकतें किये जा रहे हैं। अब उन्होंने पुरातात्विक उत्खनन का काम शुरू किया है और 19 साल पुराना एक लेख 'दायित्वबोध' पत्रिका से निकालकर ले आये हैं।

हालाँकि अपने भाषाई अस्मितावाद के बुखार से मुक्त होकर इस लेख को भी अगर वे एक मार्क्सवादी पाठक की तरह पढ़ लेते तो समझ जाते कि इस लेख के नतीजे भी उन नतीजों की पुष्टि नहीं करते हैं जो यह जमात लगातार पेश किये जा रही है। मगर मार्क्सवादी नज़रिये से चीज़ों को देखने-पढ़ने-सोचने की अक्षमता तो इन्होंने लगातार प्रदर्शित की ही है। तो यह लेख भी इसका अपवाद भला कैसे होता? भाषा के प्रश्न की और इस लेख की अपनी अधकचरी समझ के चलते इन्हें ऐसा लग रहा है मानो बहस में कोई ज़बर्दस्त हथियार इनके हाथ लग गया हो और ये बच्चों की तरह हर पोस्ट के क्मेंट में इस लेख का लिंक चेंपे जा रहे हैं।

लेख के निष्कर्षों पर विस्तार में जाने से पहले एक बात स्पष्ट करनी ज़रूरी है। ग्यारह वर्ष पहले बन्द हो चुकी 'दायित्वबोध' पत्रिका की प्रकृति मुख्यतः एक सिम्पोज़ियम की हुआ करती थी जिसमें कई ऐसी अवस्थितियों के निबन्ध प्रकाशित होते थे – चाहे राजनीतिक अर्थशास्त्र पर हों, पर्यावरण पर, स्त्री प्रश्न पर या भाषा जैसे प्रश्नों पर – जिनके साथ सम्पादक मण्डल की पूर्ण सहमति नहीं होती थी। उक्त लेख के लेखक नरेश प्रसाद भोक्ता एक अकादमीशियन हैं जिन्होंने ऐतिहासिक भाषाशास्त्रीय विश्लेषण के स्तर पर कई चूकें भी की हैं, लेकिन यह अलग मसला है जिस पर हम बाद में आयेंगे।

पहली बात, **पूरा लेख कहीं यह नहीं कहता कि हिन्दी भाषा इस क्षेत्र की अन्य सारी बोलियों को कुचलकर अस्तित्व में आयी जैसाकि इन कॉमरेडों का दावा है।** इसमें विभिन्न उदाहरणों के साथ जिस बात पर ज़ोर दिया गया है वह यह है कि औपनिवेशिक शासकों और उनके समर्थक मध्यवर्गीय कुलीनों ने अपनी गति से विकसित हो रही हिन्दी के विकास को अपनी ज़रूरतों के अनुसार जिस प्रकार से प्रोत्साहित किया, उसके चलते अन्य बोलियों-उपभाषाओं का विकास बाधित हुआ और कुछ लिपियाँ लुप्त हो गयीं। इसी लेख के मुताबिक़ (हिन्दी भाषा के इतिहास पर सबसे आरम्भिक काम करने वाले अंग्रेज़ विद्वान) "जी.ए. ग्रियर्सन ने व्याकरण के आधार पर हिन्दी से सम्बन्धित भाषाओं/बोलियों को तीन समूहों में बाँटा है एवं तीनों को अलग-अलग भाषाओं का दर्जा दिया है। ये हैं – बिहारी, पूर्वी हिन्दी एवं पश्चिमी हिन्दी।" यानी **भाषा के तौर पर हिन्दी पहले से मौजूद थी** (ज़ाहिरा तौर पर, इसके अलग-अलग रूप मौजूद थे जैसाकि अंग्रेज़ी सहित दुनिया की लगभग सभी विकसित भाषाओं के मामले में था)। लेख यह भी बताता है कि उत्तर-पश्चिमी प्रान्त एवं अवध में पूर्वी एवं पश्चिमी हिन्दी से सम्बन्धित अनेक बोलियों या लोकभाषाओं का प्रयोग किया जाता था और पश्चिमी हिन्दी का क्षेत्र पंजाब के सरहिन्द से लेकर उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के इलाहाबाद तक फैला था। इसकी कई उपभाषाएँ हैं लेकिन इनमें अधिक प्रसिद्ध ब्रजभाषा, हिन्दुस्तानी, कन्नौजी एवं बुन्देली हैं। हिन्दुस्तानी, जो कि खड़ी बोली पर आधारित है, आधुनिक काल में साहित्यिक अभिव्यक्ति के प्रमुख माध्यम के रूप में उभरकर सामने आयी।

हम पहले से बार-बार कह रहे हैं कि **शासक वर्ग किसी भाषा को निर्मित नहीं करता है, कर भी नहीं सकता।** वह अपने आर्थिक-सामाजिक हितों के मद्देनज़र आर्थिक क्रिया-व्यापार और सामाजिक-सांस्कृतिक क्रिया-व्यापार को बढ़ाने के लिए समाज-विशेष में जिस भाषा या बोली को अधिक अनुकूल पाता है उसके विकास पर बल देता है, उसे प्रोत्साहित करता है। केवल भारत नहीं, यूरोपीय इतिहास में भी इसके दर्जनों उदाहरण हैं।

औपनिवेशिक शासकों और औपनिवेशिक काल में विकसित मध्यवर्गीय कुलीनों के वर्ग ने **हिन्दी भाषा को जन्म नहीं दिया,** बल्कि उन्होंने अपने हितों के अधिक अनुकूल जानते हुए हिन्दी को अन्य बोलियों पर प्राथमिकता दी, उसके विकास पर ज़ोर दिया। इतिहास के और विस्तार में जायेंगे तो पायेंगे कि शुरुआती दौर में उन्होंने कचहरियों और सरकारी कामकाज में अंग्रेज़ी के अतिरिक्त फ़ारसी पर ज़ोर दिया, मगर कालान्तर में उर्दू-हिन्दी पर उनका ज़ोर अधिक रहा।

न.प्र.भो. के लेख में दिये गये आँकड़ों के अनुसार उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में पूर्वी हिन्दी (जिसमें अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी आती थीं) को बोलने वालों की संख्या

95,11,647 थी और इसका दायरा 1,87,500 वर्ग मील में फैला था और पश्चिमी हिन्दी (जिसमें हिन्दुस्तानी, बघेली (बंगारू), ब्रजभाषा, कन्नौजी और बुन्देली आती थीं) को बोलने वालों की संख्या 3,80,13,922 थी और इसका दायरा 2,00,000 वर्ग मील में फैला था। इनमें सबसे बड़ी संख्या हिन्दुस्तानी बोलने वालों की (1,66,33,163) थी। यह लेख ही बताता है कि हिन्दी भाषा बोलियों की "हत्या करके" नहीं बनी। हिन्दी के अलग-अलग रूप पहले से मौजूद थे जिनमें से शासक वर्गों ने उस रूप के विकास को अपने हिसाब से प्रोत्साहित किया जो उनके वांछित आर्थिक-सामाजिक-सांस्कृतिक क्रिया-व्यापार के लिए अधिक अनुकूल था।

अब दूसरे प्रश्न पर आते हैं। न.प्र.भो. ने अपने लेख में कहा है कि ब्रजभाषा, अवधी, मैथिली जैसी लोकभाषाएँ बिहार एवं उत्तर-पश्चिमी प्रान्त की बहुसंख्य जनता की सामाजिक-सांस्कृतिक आवश्यकताओं को पूरा करने में समर्थ थीं। पहली बात भाषा की आधुनिक अवधारणा को समझने की है। हम इसे उसी रूप में समझते हैं जिस रूप में स्तालिन ने अपनी रचना 'मार्क्सवाद और भाषाविज्ञान की समस्याएँ' में इसकी व्याख्या की है। मध्ययुगीन समाज में, जो धर्मकेन्द्रित समाज था, भारत ही नहीं, अन्य देशों में भी साहित्य की रचना बोलियों या उप-भाषाओं में मिलती है। कौन नहीं जानता कि तुलसी का रामचरित मानस अवधी में और कबीर, सूर, जायसी, रसखान आदि का साहित्य विभिन्न बोलियों/उपभाषाओं में है। मध्ययुगीन समाज में जनता की सामाजिक-सांस्कृतिक ज़रूरतों को ये बोलियाँ/उपभाषाएँ पूरा कर सकती थीं। इनमें वे स्वयं को किसी हद तक अभिव्यक्त कर सकते थे। लेकिन आधुनिक काल में विज्ञान व तकनोलॉजी के विकास व आर्थिक-सामाजिक जीवन की बढ़ती जटिलताओं के साथ इन बोलियों में सामाजिक जन-जीवन की आर्थिक-सामाजिक-सांस्कृतिक अभिव्यक्ति अब सम्भव नहीं रह गयी थी। न केवल भौतिकी, रसायनशास्त्र, गणित, तर्कशास्त्र, दर्शन, विधिशास्त्र आदि की बल्कि साहित्य-संस्कृति-कला आदि के क्षेत्र में भी अभिव्यक्ति अब इन बोलियों में पूरी तरह सम्भव नहीं थी। ऐसे में आधुनिक भाषा का विकास समाज की आवश्यकता थी। भारत में पूँजीवादी विकास स्वाभाविक गति से नहीं बल्कि औपनिवेशिक सत्ता द्वारा थोपी गयी सामाजिक-आर्थिक संरचना में विकृत गति से हुआ। ऐसे में भाषा का विकास भी निश्चित रूप से कई थोपे गये क़दमों से प्रभावित हुआ। इससे इतर कुछ हो भी नहीं सकता था। मगर इसका अर्थ यही क़तई नहीं होता कि अगर यह थोपी गयी प्रक्रिया न घटित हुई होती तो सभी बोलियाँ भाषा के रूप में विकसित हो गयी होतीं।

जैसा कि स्तालिन अपनी पुस्तक में बताते हैं,

"स्थानीय 'क्षेत्रीय' उपभाषाएँ या बोलियाँ जनसमूह का हितसाधन करती हैं। इनका अपना व्याकरण-तंत्र और मूल शब्द-भण्डार होता है। इस दृष्टि से, कुछ क्षेत्रीय उपभाषाएँ, राष्ट्रों के बनने की प्रक्रिया के दौरान, राष्ट्रीय भाषाओं का आधार बन सकती हैं और स्वतंत्र राष्ट्रीय भाषाओं के रूप में विकसित हो सकती हैं। उदाहरण के लिए रूसी भाषा की कुर्स्क ओरेल उपभाषा (कुर्स्क ओरेल स्पीच) के साथ ऐसा ही हुआ जो रूसी राष्ट्रीय भाषा का आधार बनी। यही बात उक्रइनी भाषा की पोल्तावा कीव उपभाषा के साथ भी हुई जो उक्रइनी राष्ट्रीय भाषा का आधार बनी। ऐसा ही दूसरी उपभाषाओं के साथ हुआ; उन्होंने अपना मूल स्वरूप खो दिया और उन्हीं में विलीन हो गयीं।

"इसके विपरीत प्रक्रियाएँ भी होती हैं, जब किसी एक राष्ट्रीयता की, जो विकास के लिए आवश्यक आर्थिक परिस्थितियों के अभाव में एक राष्ट्र न बन पायी हो, एक भाषा उस राष्ट्रीयता के राज्य के विघटन के फलस्वरूप ध्वस्त हो जाती है और क्षेत्रीय उपभाषाएँ, जिनके एक भाषा के रूप में एकीकृत होने का उपयुक्त समय नहीं आया रहता है, पुनर्जीवित होकर कई अलग, स्वतंत्र भाषाओं का निर्माण करती हैं। सम्भवतः ऐसा ही हुआ था जब एक मंगोल भाषा कई भाषाओं में विघटित हो गयी थी।" (स्तालिन, 'मार्क्सवाद और भाषाशास्त्र की समस्याएँ')

न.प्र.भो. अपने लेख में इस कालिक प्रवर्गीकरण (temporal categorization) की उपेक्षा करते हैं। भारत में आधुनिक शिक्षा और उद्योग-व्यापार का विकास औपनिवेशिक काल में शुरू हुआ। ज़ाहिरा तौर पर, उपनिवेशवादियों और उनसे जुड़े वर्गों ने जिस भाषा-लिपि को सामाजिक-सांस्कृतिक अन्तर्क्रिया के सर्वाधिक अनुकूल पाया, उसी में उन्होंने शिक्षा देने की शुरुआत की। उत्तर भारत में मुख्य रूप से यह काम अंग्रेज़ी-हिन्दी-उर्दू में हुआ, कहीं-कहीं एक दौर में फ़ारसी भी इसका माध्यम बनी। इसमें अंग्रेज़ी ऐसी भाषा थी जिसकी जड़ें भारत में नहीं थीं। लेकिन हिन्दी की जड़ें इसी क्षेत्र में थीं। न.प्र.भो. का लेख बताता है कि यहाँ की बोलियों का जो विशद दायरा था उसी की एक धारा में से पूर्वी और एक धारा से पश्चिमी हिन्दी का विकास हुआ।

आधुनिक काल में जो बुर्जुआ समाज विकसित हुए उनमें पूँजीवादी श्रम विभाजन के साथ-साथ निश्चय ही आम उत्पादक वर्गों की अभिव्यक्ति की भाषा तथा बौद्धिक वर्ग की चिन्तन और अभिव्यक्ति की भाषा के बीच एक अलगाव पैदा हो जाता है। हिन्दी पट्टी की बोलियों वाले क्षेत्रों में गाँव

के आम किसान अपनी सामान्य बोलचाल में बोलियों का ही इस्तेमाल करते हैं लेकिन आबादी के उस हिस्से में से भी जो लोग शिक्षा हासिल करके विचारों की दुनिया में दख़ल देने लगते हैं उन्हें हिन्दी में सोचने-बोलने-अभिव्यक्त करने की ज़रूरत होती है। विभिन्न बोलियों वाले व्यापक हिन्दी क्षेत्र की यह विशिष्टता है। लेकिन अगर तमिल, मलयालम, कन्नड़ या बंगला को देखें तो यह फ़र्क़ इस रूप में वहाँ मौजूद नहीं है, हालाँकि वहाँ भी आम बोलचाल की भाषा और लिखित भाषा में पर्याप्त अन्तर है।

एक बार फिर यह स्पष्ट कर दें कि हरेक बोली भाषा के तौर पर विकसित हो सके, यह ज़रूरी नहीं। आमतौर पर होता यह है कि विभिन्न बोलियों का साहित्य (लिखित या अलिखित) और शब्दभण्डार भाषा को आधार मुहैया कराता है। आगे चलकर मानकीकरण की प्रक्रिया से गुज़रने के बाद कोई भाषा ढलती है और विकसित होती है। यह मानकीकरण स्वाभाविक गति से भी होता है और शासक वर्गों द्वारा लागू नीतियों के दबाव में भी होता है। भाषा के विकसित हो जाने के लम्बे समय बाद तक भी बोलियाँ जीवित रह सकती हैं। मगर विकास की इस प्रक्रिया में जो बोलियाँ पीछे छूट जाती हैं, इतिहास में पीछे जाकर उन्हें फिर से विकसित करने के मन्सूबे बचकाने और निरर्थक होते हैं और भाषा की मार्क्सवादी समझ के विपरीत होते हैं।

भाषा ही क्यों, वर्ग समाज के इतिहास में हुई तमाम त्रासदियों, दुर्घटनाओं, अन्यायों को जो लोग पीछे जाकर ठीक करना चाहते हैं वे मार्क्सवादी नहीं, रूमानी यूटोपियावाद के शिकार हैं। उन्हें मार्क्सवाद के उपकरण की नहीं बल्कि किसी टाइममशीन की तलाश करनी चाहिए। जैसाकि प्लेखानोव ने कहा है, "ज़िन्दा लोग ज़िन्दा सवालों पर सोचते हैं।" वे गड़े मुर्दे उखाड़ने में नहीं लगे रहते। पूरे भारत के भाषाई परिदृश्य को हमारे औपनिवेशिक अतीत ने जिस तरह से प्रभावित किया है, उसे हम अतीत में पीछे जाकर ठीक नहीं कर सकते।

इतिहास-विकास के क्रम में भाषा न बन पायी बोलियों/उपभाषाओं को आज की तारीख़ में फिर भाषा के रूप में विकसित करने का कार्यभार हमारा नहीं है। किसी समाजवैज्ञानिक या क्रान्तिकारी के सामने यह जीवन्त-ज्वलन्त सवाल है ही नहीं। जो लोग ऐसे ग़ैर-मुद्दों को मुद्दा बनाने में लगे हुए हैं वे जनता की सस्ती भावनाओं को भुनाने के चक्कर में आज के वास्तविक सवालों को दरकिनार करके अनजाने में ही किसकी मदद कर रहे हैं, इसे कोई भी समझ सकता है।

●

भाषाई अस्मितावादियों और राष्ट्रवादियों के नये गहने

(पेज 70 से जारी)

वे सबसे सुसंगत जनवादी होते हैं। राष्ट्रीय अविश्वास, अलगाव, सन्देह और शत्रुता की हर निशानी को ख़त्म करने की दृष्टि से राष्ट्रों की सम्पूर्णतम समानता मज़दूरों के वर्ग संघर्ष में सर्वहारा एकजुटता और कॉमरेडाना एकता के हितों की माँग है। और पूर्ण समानता में किसी एक भाषा के सभी विशेषाधिकारों को ख़ारिज किया जाना और सभी राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के *अधिकार* की मान्यता अन्तर्निहित है।

"लेकिन बुर्जुआ वर्ग के लिए राष्ट्रीय समानता की माँग का मतलब अक्सर ही अमल में **राष्ट्रीय विशिष्टता और अन्धराष्ट्रवाद** की हिमायत करना होता है; अक्सर ही वे इसे राष्ट्रों के विभाजन और अलगाव की *हिमायत* के साथ मिला देते हैं। यह सर्वहारा *अन्तरराष्ट्रीयतावाद* के साथ *पूरी तरह* असंगत है, जो न केवल राष्ट्रों के बीच *नज़दीकी सम्बन्धों* की, बल्कि किसी राज्य में सभी राष्ट्रीयताओं के मज़दूरों के *एकीकृत* सर्वहारा संगठनों में *समेकीकरण* की हिमायत करता है। इसीलिए मार्क्सवादी तथाकथित 'सांस्कृतिक-राष्ट्रीय स्वायत्तता', यानी इस विचार की पुरज़ोर भर्त्सना करते हैं कि शैक्षणिक मामलों को राज्य के हाथों से *लेकर सम्बन्धित* राष्ट्रीयताओं को सौंप दिया जाना चाहिए। इस योजना का मतलब है कि 'राष्ट्रीय संस्कृति' के सवालों में शैक्षणिक मामले किसी राज्य परिसंघ में राष्ट्रीयताओं के अनुसार *राष्ट्रीय संघों* में विभाजित कर दिये जायेंगें, जिनमें से हरेक की अपनी अलग 'डायट', शैक्षणिक बजट, स्कूल बोर्ड और शैक्षणिक संस्थान होंगे।" *(वही)*

लोकरंजकतावाद की अपनी गति होती है। इन्होंने तो एक भूतपूर्व अपराधी के द्वारा, जो कि राजनीति में आना चाहता है, ऐसी ही सस्ती और निचली कोटि की भाषाई अस्मितावादी कार्रवाइयों की हिमायत भी की थी। यह भूतपूर्व अपराधी हाइवे पर लगे मील के पत्थरों पर से हिन्दी और अंग्रेज़ी में की गयी लिखावट पर कालिख पोत रहा था! उसे इन्होंने 'दबी हुई भावनाओं की अभिव्यक्ति' क़रार दिया था। लेकिन यही काम अगर अमित शाह के गुण्डे दिल्ली के साइनबोर्डों पर पंजाबी के साथ करें तो हम सभी उसकी निन्दा करेंगे। ये अस्मितावादी लोग भी करेंगे। अगर कनाडा की संसद की कार्यवाही का प्रसारण पंजाबी में होता है तो ये जस्टिन त्रूदो को बधाई देने में देर नहीं लगाते। ये ही लोग इस माँग का समर्थन भी करते हैं कि पंजाब में सारी शिक्षा और सारा सरकारी कामकाज *केवल* पंजाबी में होना चाहिए। यानी कि वहाँ के 27 लाख प्रवासियों को मातृभाषा में पढ़ने और सभी कामकाज का कोई हक़ नहीं होना चाहिए। ये सभी दोहरे मापदण्ड इनके राष्ट्रवादी और भाषाई अस्मितावादी दोहरे मानकों को नंगा कर देते हैं।

●

भाषाई अस्मितावादियों से न्गूगी वा थ्योंगो को बचाओ!

● **सम्पादक मण्डल, 9 नवम्बर 2019**

हाल ही में भाषाई अस्मितावादियों ने 'आह्वान' के एक पुराने अंक में छपे **न्गूगी वा थ्योंगो** के एक लेख से एक उद्धरण पेश किया है। शायद उनका मक़सद यह साबित करना है कि इस उद्धरण के अनुसार भाषा का भी साम्राज्यवादी चरित्र हो सकता है यानी कि उसका वर्ग चरित्र हो सकता है। पहली बात तो यह है कि इस उद्धरण में न्गूगी ने ऐसी कोई बात ही नहीं कही है। अगर अपनी भाषाई कट्टरता को छोड़कर हमारे भाषाई अस्मितावादियों ने थोड़ा ठण्डे दिमाग़ से यह उद्धरण पढ़ा होता तो उनकी समझ में आ जाता कि न्गूगी यहाँ ऐसा कुछ भी नहीं कह रहे हैं। न्गूगी कह रहे हैं कि भाषा भी वर्ग संघर्ष का एक क्षेत्र बन जाती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि भाषा का स्वयं कोई वर्ग चरित्र होता है। यदि कोई राज्यसत्ता किसी भाषा को अपनी आधिकारिक भाषा के रूप में अपनाती है और इसे अन्य भाषाभाषियों पर थोपती है तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि उस भाषा का ही कोई वर्ग चरित्र हो जाता है। इसका केवल यह अर्थ है कि उस भाषा को साम्राज्यवादी या शासक वर्ग अपने दमन का उपकरण बना रहे हैं। दूसरी बात यह है कि भाषा के प्रयोग-धर्म (usage) का वर्ग चरित्र होता है। मिसाल के तौर पर, एक ही भाषा को बोलने वाले कुलीन वर्ग के लोग और आम मेहनतकश आबादी उसका अलग-अलग रूप में प्रयोग करते हैं क्योंकि उनके जीवन-सन्दर्भ अलग-अलग होते हैं। लेकिन भाषा का अपने आप में कोई वर्ग चरित्र नहीं होता है। **स्तालिन** ने अपनी प्रसिद्ध कृति **'मार्क्सवाद और भाषा-विज्ञान की समस्याएँ'** में इसे बेहतरीन तरीक़े से समझाया है।

इसी पुस्तक में स्तालिन यह भी कहते हैं : "लोगों के बीच परस्पर सम्पर्क के साधन के रूप में, भाषा की क्रियात्मक भूमिका दूसरे वर्गों को क्षति पहुँचाकर किसी एक वर्ग की सेवा करना नहीं बल्कि समान रूप से पूरे समाज की, उसके सभी वर्गों की सेवा करने की होती है। दरअसल यह इस बात को स्पष्ट करता है कि क्यों कोई भाषा समान रूप से पुरानी, मरणासन्न व्यवस्था और नयी उदयोन्मुख व्यवस्था – दोनों की ही (पुराने और नये – दोनों मूलाधारों की, शोषक और शोषित – दोनों की) सेवा करती है।

"यह बात हर आदमी जानता है कि रूसी भाषा ने अक्टूबर क्रान्ति के पूर्व रूसी पूँजीवाद और रूसी पूँजीवादी संस्कृति का हितपोषण उसी प्रकार किया, जिस प्रकार वह अब रूसी समाज की समाजवादी व्यवस्था और समाजवादी संस्कृति का कर रही है।

"यही बात उक्रइनी, बेलारूसी, उज़बेक, कज़्ज़ाक, जॉर्जियाई, आर्मीनियाई, एस्तोनियाई, लातवियाई, लिथुआनियाई, मोल्दावियाई, तातार, अज़रबैजानियाई, बश्कीर, तुर्कमान तथा सोवियत राष्ट्रों की ऐसी दूसरी अन्य भाषाओं के साथ भी लागू होती है। इन भाषाओं ने इन राष्ट्रों की पुरानी पूँजीवादी व्यवस्थाओं का उसी प्रकार पक्षपोषण किया जिस तरह नयी समाजवादी व्यवस्था का।"

आगे फिर वे बताते हैं : "पूँजीवाद के उदय, सामन्ती वर्गीकरण की समाप्ति एवं राष्ट्रीय बाज़ारों के निर्माण के साथ ही राष्ट्रीयताओं का विकास राष्ट्रों में एवं राष्ट्रीयताओं की भाषाओं का विकास राष्ट्रीय भाषाओं में हुआ। इतिहास बताता है कि राष्ट्रीय भाषाएँ वर्ग-भाषाएँ नहीं बल्कि सामान्य भाषाएँ थीं जो राष्ट्र के सभी सदस्यों के लिए सामान्य थीं और पूरे राष्ट्र में एक थीं।

"ऊपर कहा जा चुका है कि भाषा एक समाज के लोगों के बीच सम्पर्क-सूत्र के रूप में उस समाज के सभी वर्गों की सेवा समान रूप से करती है। और इस सन्दर्भ में, हम कह सकते हैं कि यह समाज के वर्गों के प्रति तटस्थता का रुख़ अख़्तियार करती है! लेकिन लोग, विभिन्न सामाजिक जमातें, या यूँ कहें कि विभिन्न वर्ग भाषा के प्रति तटस्थ क़तई नहीं होते। वे भाषा का अपने हित में उपयोग करने का सदैव प्रयास करते हैं, भाषा पर अपनी विशेष 'जमाती भाषा' ('लिंगो'), विशेष पारिभाषिक शब्दों और विशेष अभिव्यक्तियों को आरोपित करना चाहते हैं। विशेषकर अभिजात सामन्त वर्ग और बड़े पूँजीपतियों जैसे ऊपरी तबक़े के धनी वर्ग, जो जनता से स्वयं को पूर्णतः काट चुके हैं और उससे नफ़रत करते हैं, इस सन्दर्भ में अपने को भिन्न या आम लोगों से अलग प्रदर्शित करते हैं। इस तरह वर्ग-उपभाषा ('क्लास डायलेक्ट'), वर्ग-बोली ('जार्गन') या उच्चवर्गीय भाषा बनती हैं। इन वर्ग-उपभाषाओं या वर्ग-बोलियों का हवाला साहित्य में अक्सर ग़लत ढंग से 'अभिजात भाषा' या 'पूँजीवादी भाषा' के रूप में, 'सर्वहारा भाषा' या 'किसान भाषा' के विरोध में रखते हुए दिया जाता है।..." (सभी उद्धरण, स्तालिन, 'मार्क्सवाद और भाषाशास्त्र की समस्याएँ')

हमारे भाषाई अस्मितावादियों ने हिन्दी को हत्यारी भाषा क़रार दे दिया है! उनके कुछ समर्थक इसे साम्राज्यवादी भाषा बता रहे हैं। आइए देखते हैं कि **स्वयं न्गूगी वा थ्योंगो के उस भाषा और उसके साहित्य के बारे में, यानी अंग्रेज़ी भाषा के बारे में क्या विचार थे जिसको थोपे जाने और जिसे राज्यसत्ता द्वारा साम्राज्यवाद का वाहक बनाये जाने के विरुद्ध वे संघर्ष कर रहे थे।** न्गूगी कहते हैं : **"मेरे शेक्सपियर हमेशा मेरे पास रहते हैं। डिकेंस के चरित्रों का दायरा अद्भुत था। ये बात शेक्सपियर के बारे में भी कही जा सकती है। और अब जबकि मैं एक लेखक हूँ तो मैं ज़्यादा अच्छी तरह से समझ सकता हूँ कि वे क्या करने की क्षमता रखते थे। इसलिए मेरी आलोचना अंग्रेज़ी साहित्य की गुणवत्ता और उसके मूल्य के विषय में नहीं है, बल्कि विभिन्न भाषाओं और साहित्यों के बीच बना दिये गये पदानुक्रम और सत्ता सम्बन्धों की है, जिसके कारण अंग्रेज़ी**

(पेज 77 पर जारी)

भाषाई अस्मितावादियों के हवाई दावे और भाषा-बोली को लेकर बचकानी, हठीली नासमझियाँ

● **सम्पादक मण्डल, 11 नवम्बर 2019**

भाषाई अस्मितावादियों का दावा है कि पूरी हिन्दी पट्टी में हिन्दी भाषा बोलने वालों की तादाद केवल 4-5 करोड़ है। बाक़ी आबादी ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मागधी, हरियाणवी आदि बोलती है, जो कि अलग भाषाएँ हैं, हालाँकि हिन्दी द्वारा दमन के कारण उनका अलग भाषाओं के रूप में विकास नहीं हो पाया। हमेशा की तरह यह दावा इन्होंने बिना किसी स्रोत के, बिना किसी साक्ष्य के उछाल दिया है। मज़े की बात है कि यह तर्क इन पंजाबी बिग नेशन शॉविनिस्ट्स द्वारा केवल हिन्दी भाषा पर ही लगाया जाता है, पंजाबी भाषा पर नहीं। इन्हीं के तर्क से पंजाबी भाषा की अलग-अलग बोलियों जैसे कि माझी, दुआबी, मुलतानी, पुआधी, मलवई, राठी, डेरावाली आदि को अलग भाषाएँ क्यों न माना जाये? क्या यह नियम सिर्फ़ हिन्दी के लिए है? यह सवाल हम पहले भी कई बार पूछ चुके हैं लेकिन इस पर इनके पास कोई जवाब नहीं है, क्योंकि इनकी पूरी अवस्थिति हिन्दी-विरोध की बन गयी है, भले ही बीच में इनका कोई साथी यह जुमला उछाल दे कि हम हिन्दी-विरोधी नहीं हैं।

अब दूसरे प्रश्न पर आते हैं। कोई मार्क्सवादी किसको भाषा और किसे बोली मानता है। यदि ये कतिपय कॉमरेड इस प्रश्न पर स्तालिन द्वारा पेश क्लासिकीय मार्क्सवादी अवस्थिति को ही मानते हैं तो हिन्दी और उसकी बोलियों के बीच सम्बन्ध के बारे में उनका पूरा नज़रिया ही भाषाई अस्मितावादी है, न कि मार्क्सवादी। देखें कि स्तालिन इस विषय में क्या कहते हैं। स्तालिन लिखते हैं :

"जैसा कि हम जानते हैं, एक भाषा के सभी शब्दों को एक साथ एकत्र करने से बने संग्रह को उस भाषा के शब्द-भण्डार (वॅकेब्युलरी) नाम से जाना जाता है। एक भाषा के शब्द-भण्डार में मुख्य चीज़ इसके शब्दों का मूल भण्डार होता है जिसमें सारतत्व के रूप में सभी मूल शब्द शामिल होते हैं। यह उक्त भाषा के पूरे शब्द-भण्डर से काफ़ी कम व्यापक होता है; लेकिन काफ़ी लम्बे समय तक, शताब्दियों तक बना रहता है और भाषा को नये शब्दों के निर्माण के लिए आधार प्रदान करता है। शब्द-भण्डार भाषा की स्थिति को प्रतिबिम्बित करता है। जितना ही समृद्ध और वैविध्यपूर्ण शब्द-भण्डार होता है उतनी ही समृद्ध और विकसित भाषा होती है।

"फिर भी, शब्द-भण्डार अपने-आप भाषा की रचना नहीं करता; बल्कि यह उसके निर्माण में लगने वाली सामग्री मात्र है। जिस तरह किसी भवन के निर्माण में केवल उसमें लगने वाली वस्तुओं से ही भवन नहीं बन जाता (हालाँकि यह उनके बिना भी नहीं बन सकता) उसी तरह शब्द-भण्डार मात्र से ही भाषा का निर्माण नहीं हो जाता; हालाँकि इसके बग़ैर भी भाषा की कल्पना नहीं की जा सकती। लेकिन एक भाषा के शब्द-भण्डार को उस समय ज़बर्दस्त शक्ति मिल जाती है जब इसे व्याकरण का नियंत्रण प्राप्त हो जाता है, जो शब्दों में परिवर्तन और उनके वाक्यों में संयोजन के नियमों को परिभाषित करता है और इस तरह भाषा को एक सुसंगत और सार्थक क्रिया बना देता है। व्याकरण (रूप-विज्ञान, वाक्य-विन्यास) उन नियमों का संग्रह है जो शब्दों के परिवर्तन और वाक्यों में उनके संयोजन को नियंत्रित करते हैं। इसीलिए व्याकरण की बदौलत ही भाषा के लिए मनुष्य के विचारों को अपने (भाषा के) भौतिक आवरण में प्रतिष्ठापित कर पाना सम्भव हो पाता है।

"व्याकरण की मुख्य गुणदर्शी विशेषता यह है कि वह शब्दों में परिवर्तन के नियमों को किन्हीं निश्चित, ठोस शब्दों के सन्दर्भ में नहीं; बल्कि सामान्य रूप से सभी प्रकार के शब्दों के सन्दर्भ में प्रस्तुत करता है। वह वाक्य-रचना के नियमों को किन्हीं विशेष प्रकार के, निश्चित वाक्यों – यों कहें कि निश्चित कर्ता और निश्चित विधेय आदि – के सन्दर्भ में नहीं; बल्कि सामान्य रूप से सभी वाक्यों के लिए, उनके सुनिश्चित रूप से निरपेक्ष होकर प्रस्तुत करता है। इस तरह, शब्दों और वाक्यों – दोनों के सन्दर्भ में, विशिष्ट और सुनिश्चित प्रकारों से अपने को अमूर्त या निरपेक्ष बनाते हुए व्याकरण उन चीज़ों को अपनाता है जो शब्दों के परिवर्तन और वाक्यों की रचना में आधारभूत और सामान्य होती हैं और उन्हें व्याकरण के नियमों की शक्ल देता है – व्याकरण मानव-मस्तिष्क द्वारा काफ़ी लम्बे समय से सम्पन्न की जा रही अमूर्तीकरण ('एब्सट्रैक्शन') की प्रक्रिया का प्रतिफलन है। यह चिन्तन की ज़बर्दस्त उपलब्धियों का एक पैमाना है।

"इस सन्दर्भ में व्याकरण काफ़ी हद तक ज्यामिति से मिलता-जुलता है जो ठोस वस्तुओं से अमूर्तन की प्रक्रिया द्वारा अपने नियम बनाती है और उन वस्तुओं को ठोसपन या निश्चितता से रहित पिण्डों की तरह लेती है तथा उनके बीच के सम्बन्धों को ठोस, निश्चित वस्तुओं के निश्चित सम्बन्धों के रूप में परिभाषित करने के बजाय सभी प्रकार के ठोसपन या निश्चितता ('कांक्रीटनेस') से रहित पिण्डों के सम्बन्धों के

रूप में परिभाषित करती है।" (स्तालिन, 'मार्क्सवाद और भाषाविज्ञान की समस्याएँ')

इससे स्पष्ट है कि किसी भी भाषा की मूल चारित्रिक आभिलाक्षणिकता है : एक व्यवस्थित लेक्सिकन (शब्द भण्डार) और एक व्यवस्थित व्याकरणिक व्यवस्था। इसके बिना किसी भी बोली को भाषा नहीं कहा जा सकता है। बोलियों में एक शब्द भण्डार होता है, लेकिन वह मानकीकृत नहीं होता और एक ही बोली के शब्द कुछ ही किलोमीटर की दूरियों पर अपने अर्थ बदल सकते हैं। यही बात उनके अमानकीकृत व्याकरणिक ढाँचे के बारे में भी कही जा सकती है। ऐसे में, इन बोलियों में ज्ञान-विज्ञान व दर्शन की विभिन्न शाखाओं के जटिल विनिमय सम्भव नहीं हैं। वैज्ञानिक व दार्शनिक संवाद तभी सम्भव है, जबकि विचारों के आदान-प्रदान के रूप में इस्तेमाल की जा रही भाषा का मानकीकृत लेक्सिकन व व्याकरण हो।

भाषाओं का विकास मुख्य रूप से किसी एक बोली पर आधारित होकर होता है। लेकिन वह कई बोलियों के शब्द भण्डार और व्याकरणिक ढाँचों को ग्रहण करती है। हिन्दी के बारे में भी यही बात कही जा सकती है। इसका विकास मुख्य रूप से खड़ी बोली को आधार बनाकर हुआ है। लेकिन इसने ब्रज, अवधी, मागधी, भोजपुरी, कन्नौजी, बुन्देली, कौरवी, अहीरी सभी से ग्रहण किया है। यही कारण है कि इन बोलियों को बोलने वाले सभी लोग हिन्दी को समझते हैं। यही बात हर भाषा पर लागू होती है। हर भाषा ही मुख्य रूप से किसी एक बोली पर निर्भर रहते हुए, कई बोलियों के ऐतिहासिक और वैज्ञानिक अमूर्तन से बनती है। स्तालिन इसके बारे में लिखते हैं :

"दूसरी ओर स्थानीय ('क्षेत्रीय') उपभाषाएँ या बोलियाँ जनसमूह का हितसाधन करती हैं। इनका अपना व्याकरण-तंत्र और मूल शब्द-भण्डार होता है। इस दृष्टि से, कुछ क्षेत्रीय उपभाषाएँ, राष्ट्रों के बनने की प्रक्रिया के दौरान, राष्ट्रीय भाषाओं का आधर बन सकती हैं और स्वतंत्र राष्ट्रीय भाषाओं के रूप में विकसित हो सकती हैं। उदाहरण के लिए रूसी भाषा की कुर्स्क ओरेल उपभाषा (कुर्स्क ओरेल 'स्पीच') के साथ ऐसा ही हुआ जो रूसी राष्ट्रीय भाषा का आधार बनी। यही बात उक्रइनी भाषा की पोल्तावा कीव उपभाषा के साथ भी हुई जो उक्रइनी राष्ट्रीय भाषा का आधार बनी। ऐसा ही दूसरी उपभाषाओं के साथ हुआ; उन्होंने अपना मूल स्वरूप खो दिया और उन्हीं में विलीन हो गयीं।"

स्तालिन की इस बात को हमारे भाषाई अस्मितावादी समझने में बुरी तरह से असफल हैं। इनकी समझ में नहीं आता कि भाषाएँ अपने आप में बोलियों की हत्याएँ करके नहीं बनती हैं, बल्कि मुख्य रूप से एक बोली पर निर्भर रहते हुए कई बोलियों के ऐतिहासिक और वैज्ञानिक अमूर्तन से पैदा होती हैं। जब भाषा शासक वर्ग द्वारा अपने राजकीय प्रयोग के लिए अपनायी जाती है तो दूसरी भाषाओं के साथ अन्याय अवश्य हो सकता है। लेकिन यह भाषा द्वारा बोलियों की हत्या नहीं है। ऐसा मानना ही अस्मितावादी तर्क है।

राजस्थानी की बात बिल्कुल भिन्न है। राजस्थानी एक स्वतंत्र भाषा के रूप में विकसित हो गयी। उसी प्रकार मैथिली भी एक स्वतंत्र भाषा के रूप में विकसित हो गयी। इनकी हरियाणवी बोलियों, ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मागधी से कोई तुलना ही नहीं है। इन अस्मितावादियों की मानसिक दरिद्रता यह है कि ये खड़ी बोली को ही हिन्दी समझते हैं और उसके अलावा अन्य सभी भाषाओं, उपभाषाओं और बोलियों को स्वतंत्र भाषा जिनका 'हिन्दी द्वारा दमन के कारण' विकास नहीं हो पाया। अब यह सभी भोजपुरी, ब्रज, बुन्देली, कन्नौजी आदि बोलने वालों का आह्वान कर रहे हैं कि वह इन सभी बोलियों का अलग-अलग भाषाओं के रूप में विकास करें। इन बोलियों की तुलना ये दागिस्तानी, उज़बेकी, तुर्कमानी, आदि भाषाओं से कर रहे हैं, जो कि अलग भाषाएँ थीं और ज़ारकालीन रूस में राष्ट्रीय दमन के कारण विकसित नहीं हो पायी थीं और समाजवादी सोवियत संघ में पुनः विकसित हुईं क्योंकि वहाँ सभी भाषाओं को बराबरी का दर्जा था। कहीं के ईंट और कहीं के रोड़े को हमारे भाषाई अस्मितावादियों और राष्ट्रवादियों ने मनमाने ढंग से जोड़ दिया है।

असली बात यह है कि ये भाषाई अस्मितावादी और राष्ट्रवादी तीन बातें नहीं समझते हैं : पहला, भाषाएँ बोलियों की हत्याएँ करके नहीं पैदा होती हैं, बल्कि किसी एक बोली को मुख्य रूप से आधार बनाते हुए कई बोलियों से ग्रहण करके पैदा होती हैं, यानी कि उनके ऐतिहासिक व वैज्ञानिक अमूर्तन से पैदा होती हैं, हालाँकि राज्यसत्ता द्वारा अपनी राजकीय भाषा बनाये जाने पर शासक वर्ग इन्हें थोप सकता है और इस रूप में अन्य भाषाओं व बोलियों का दमन हो सकता है। दूसरी बात, जो बोलियाँ भाषा के रूप में ऐतिहासिक प्रक्रिया में (आम तौर पर, पूँजीवाद और एकीकृत बाज़ार व सामाजिक-आर्थिक अन्तर्क्रिया के एकीकृत नेटवर्क के विकसित होने की प्रक्रिया में) भाषाएँ नहीं बन पातीं, वे बोलियों के रूप में अस्तित्वमान रहती हैं और लोग सामाजिक जीवन में आम बातचीत में उनका इस्तेमाल भी जारी रखते हैं। तीसरी बात, इन सभी बोलियों को भाषा के रूप में विकसित करने की ज़िद एक अनैतिहासिक, अवैज्ञानिक, अस्मितावादी और रूमानी नज़रिया है। ऐतिहासिक प्रक्रिया स्वतः किसी बोली को भाषा का मुख्य आधार बनाने के लिए चुन लेती है। आम तौर पर, यह वह बोली होती है जो बहुसंख्यक आबादी द्वारा बोली जाती है और मानकीकरण के लिए अपेक्षाकृत रूप से ज़्यादा उपयुक्त होती है। सभी बोलियाँ ऐतिहासिक तौर पर एकदम एकसमान विकसित नहीं होती हैं। ऐसा सम्भव भी नहीं है।

ये भाषाई अस्मितावादी कह रहे हैं कि हमने भाषा को कभी साम्राज्यवादी भाषा नहीं कहा। लेकिन इनके ही एक साथी ने अपनी एक टिप्पणी में "साम्राज्यवादी भाषा, साम्राज्यवादी संस्कृति और साम्राज्यवादी सभ्यता" की स्पष्ट शब्दों में बात की है। **अब ये अपनी बात से भाग रहे हैं क्योंकि इनके भी समझ में आ गया है कि ऐसी बात न्गूगी पर भी थोप पाना मुश्किल है।**

असल बात यह है कि लाख प्रयासों के बावजूद ये हिन्दी पट्टी की सभी बोलियों के अस्मितावादियों को एकजुट नहीं कर पा रहे हैं। ये प्रयास भी करें तो उत्तर प्रदेश, बिहार, हरियाणा, झारखण्ड, छत्तीसगढ़ और मध्यप्रदेश में इनकी लाइन की बात कोई नहीं सुनने वाला, हालाँकि अपने जैसे ही कुछ अस्मितावादी इन्हें ज़रूर मिल जायेंगे। उस वैज्ञानिक बात को जनता व्यावहारिक तौर पर समझती है, जिसे सैद्धान्तिक तौर पर इनका अस्मितावादी मन समझ नहीं पा रहा है।

इन्होंने 1947 में सिर्फ़ पंजाब के साथ हुए अन्याय की बात फिर से करके अपने राष्ट्रवादी विचलन को फिर से नंगा कर ही दिया। हम पहले ही लिख चुके हैं कि कोई कम्युनिस्ट 1947 के विभाजन को केवल पंजाब के साथ हुई त्रासदी के रूप में नहीं देखता बल्कि पूरे भारतीय उपमहाद्वीप के साथ हुई त्रासदी के रूप में देखता है। उसी प्रकार इन्होंने 1966 के भाषाई बँटवारे को भी पंजाब के साथ दोबारा अन्याय बताकर अपने बिग नेशन शॉविनिज़्म को भी फिर से ज़ाहिर कर दिया है। हम इन्तज़ार कर रहे हैं कि इस माँग को ये उन प्रदेशों में भी जाकर अभियान चलाकर उठायें जिन प्रदेशों के कई ज़िलों को पंजाब में शामिल करने की ये माँग कर रहे हैं। वहाँ की जनता स्वयं ही इन्हें जवाब दे देगी। हमने पहले भी लिखा है कि ऐसे मसलों का सर्वहारा वर्ग और आम मेहनतकश आबादी के लिए कोई अर्थ और प्रासंगिकता नहीं है, न ही जनता यह माँग उठा रही है और न ही इसे लेकर कोई स्वतःस्फूर्त आन्दोलन है। ऐसी बात को पंजाब के भीतर एक छोटी-सी आबादी में अन्धराष्ट्रवाद पैदा करने के लिए तो इस्तेमाल किया जा सकता है, लेकिन हिमाचल प्रदेश और हरियाणा में इस पर कोई कान भी नहीं देगा। उल्टे यह इन तीनों ही राज्यों की जनता के बीच दरारें ज़रूर पैदा कर सकता है, जिसका इस्तेमाल फ़िरकापरस्त पूँजीवादी ताक़तें ही करेंगी। वास्तव में, यह एक ग़ैर-सर्वहारा और प्रतिक्रियावादी एजेण्डा है।

लुब्बेलुबाब यह कि इनके पास कहने के लिए कुछ भी नया नहीं है। और जो पुराना है वह अस्मितावादी और अन्धराष्ट्रवादी बकवासों से भरा हुआ है। और ऐसे कतिपय कॉमरेडों को इतिहास और व्यवहार ही सिखा देगा कि ऐसी कार्यदिशा के नतीजे विनाशकारी ही हो सकते हैं।

●

भाषाई अस्मितावादियों से न्गूगी वा थ्योंगो को बचाओ!

(पेज 74 से जारी)

और अन्य यूरोपीय भाषाओं को उस पदानुक्रम में ऊपर रख दिया जाता है।

"अगर आप पदानुक्रम को ख़त्म कर दें और उसकी जगह एक नेटवर्क स्थापित कर दें, तो विभिन्न भाषाओं में निहित संस्कृतियाँ ऑक्सीज़न पैदा करती हैं। वे एक-दूसरे को उर्वर बनाती हैं। संस्कृतियाँ एक दूसरे में जीवन फूँकती हैं। हर संस्कृति को अन्य संस्कृतियों का अनुमोदन करते हुए पढ़ाया जाना चाहिए।" (न्गूगी वा थ्योंगो, तनुज राउत से साक्षात्कार में)

अब ज़रा हमारे राष्ट्रवादी विचलन और भाषाई अस्मितावाद से पीड़ित कतिपय कॉमरेडों की सोच से न्गूगी की सोच की तुलना करिए। वैसे तो न्गूगी भी एक रैडिकल जनपक्षधर बुद्धिजीवी हैं, कोई मार्क्सवादी-लेनिनवादी नहीं और भाषा के सवाल पर उनके सभी विचार अनालोचनात्मक तौर पर स्वीकारे नहीं जा सकते हैं। लेकिन न्गूगी के विचारों का जो अर्थ ये भाषाई अस्मितावादी ज़बरन निकालने में लगे हैं, वह न्गूगी के साथ सरासर ज़्यादती है। ज़रा देखें और न्गूगी के विचारों से तुलना करें। ये लोग तो एक प्रोफ़ेसर द्वारा पंजाब में पंजाबी की "सरदारी" स्थापित करने की सोच, वहाँ केवल पंजाबी भाषा में ही शिक्षण-प्रशिक्षण और सरकारी कामकाज का समर्थन करते हैं! वे तो हिन्दी को साम्राज्यवादी और हत्यारी भाषा क़रार देते हैं! पंजाब के प्रवासी मज़दूरों और उनके बच्चों पर पंजाबी थोपना उनके अनुसार सही है! उनके बच्चों को पंजाबी को मातृभाषा मानने की तख्तियाँ पकड़ाना और जो अन्य भाषाभाषी हैं, लेकिन पंजाब में जन्मे हैं, उनके लिए पंजाबी को मातृभाषा क़रार देने को वे पंजाबी को थोपना नहीं मानते हैं! ज़रा फ़र्ज़ करें कि जो पंजाबीभाषी हरियाणा, उत्तर प्रदेश या बिहार में जन्मे हैं, उनके बारे में भी कहा जाये कि उनकी मातृभाषा पंजाबी नहीं बल्कि हिन्दी होनी चाहिए, तो इन भाषाई अस्मितावादियों की क्या प्रतिक्रिया होगी?

इनके पास कोई तर्क नहीं है। तर्क की जगह इन्होंने भावनाओं को रख दिया है। ये भावनाएँ भाषाई अस्मितावादी और राष्ट्रवादी भावनाएँ हैं। इसी ज़मीन से इनका सारा कुतर्क पैदा होता है, इसी से इनके सवाल पैदा होते हैं। लेकिन ये किसी सवाल का जवाब नहीं देना चाहते हैं। इनसे हमने जितने सवाल पूछे या तो उन पर इन्हें सनाका मार गया है या ये गोलमाल कर रहे हैं। इनके तमाम प्रश्नों का हमने विस्तार से उत्तर दिया, उन उत्तरों पर भी इनका कोई उत्तर नहीं है। इनके पास बस एक ही चीज़ बची है : राष्ट्रवादी और भाषाई अस्मितावादी ज़मीन से भावनाओं को उभारना। ये उभर भी गयीं तो इसका नतीजा भविष्य में विनाशकारी ही होने वाला है। हम उम्मीद करते हैं कि इन्हें सद्बुद्धि आये।

●

असम में एनआरसी पर 'ललकार' के भाषाई व राष्ट्रीय अस्मितावाद के शिकार साथियों की ग़लत अवस्थिति पर 'आह्वान' की ओर से 14 दिसम्बर 2019 को डाली गयी टिप्पणी

● सम्पादक मण्डल

आरएसएस के पुराने एजेण्डा को आगे बढ़ाते हुए केन्द्र की भाजपा सरकार ने एनआरसी और फिर नागरिकता संशोधन विधेयक (कैब) के ज़रिये जो ख़तरनाक खेल खेला है उसने देश के कई हिस्सों को अभी से आग की लपटों में झोंक दिया है। जहाँ देशभर में आम तौर पर इस विधेयक के ज़रिये मुसलमानों को निशाना बनाये जाने के षड्यंत्र और धर्म के आधार पर नागरिकता का फ़ैसला करने की साम्प्रदायिक कुटिल चाल का विरोध हो रहा है, वहीं असम में इस विरोध की एक अलग ज़मीन है। हालाँकि वहाँ भी काफ़ी लोग सेकुलर आधार पर इसके विरोध में हैं लेकिन बड़े पैमाने पर जो उग्र विरोध सामने आ रहा है वह जिस ज़मीन से हो रहा है उसके अपने ख़तरे हैं।

इस फ़र्क़ को समझने में कई प्रबुद्ध और प्रगतिशील लोगों से भी ग़लती हो रही है। मगर हैरत की बात तो यह है कि अपने को वाम क्रान्तिकारी कहने वाले कुछ लोग भी न सिर्फ़ असम में हो रहे कैब के विरोध के पीछे की राजनीति को समझ नहीं रहे बल्कि भाषाई अस्मितावाद और अन्धराष्ट्रवाद के अपने चश्मे से देखकर उसकी भी घोर अनर्थकारी व्याख्या पेश कर रहे हैं। वैसे, इसमें ज़्यादा हैरत की बात भी नहीं है। पिछले डेढ़ वर्षों के दौरान इनका भाषाई अस्मितावाद और राष्ट्रवादी भटकाव जिस दिशा में बढ़ता रहा है उसे यहीं तक जाना था। दूसरे, ये भी वाम आन्दोलन के अनेक हलक़ों में व्याप्त इस बीमारी से बुरी तरह ग्रस्त हैं जिसके चलते लोग इतिहास, राजनीति, भाषा, संस्कृति आदि की अधकचरी जानकारी लिये हुए हर बात पर ज्ञान बघारते रहते हैं, बिना यह समझे कि इसकी दूरगामी परिणतियाँ कितनी भयंकर होंगी।

असम की तमाम क्षेत्रीय अस्मितावादी पार्टियों को सिर्फ़ कैब से परेशानी है। एनआरसी से उन्हें कोई समस्या नहीं बल्कि बहुतेरे तो एनआरसी के समर्थक हैं। कैब के उनके विरोध का कारण बंगलाभाषियों के विरुद्ध नफ़रत है जिसे लम्बे समय से असम में भड़काया जाता रहा है। पहले बंगला विरोधी नफ़रत को भड़काकर कांग्रेस असम में अपनी राजनीति की रोटियाँ सेंकती रही और तमाम असमिया अस्मितावादी व उग्रवादी संगठनों को हिंसा की खुली छूट देकर अपनी गोटियाँ लाल करती रही। बाद में उन्हीं संगठनों का आरएसएस और भाजपा के साथ गठजोड़ हो गया क्योंकि ये उनके अन्धराष्ट्रवादी एजेण्डा को ज़्यादा खुलकर आगे बढ़ा सकते थे।

नागरिकता संशोधन विधेयक से असमिया अस्मितावादी संगठन इसलिए नाराज़ हैं क्योंकि यह धर्म के आधार पर बंगालियों और अन्य प्रवासियों के सिर्फ़ एक धार्मिक समुदाय, यानी मुसलमानों को बाहर करने की बात करता है और हिन्दुओं को नागरिकता देने की बात करता है, जबकि ये असमिया अस्मितावादी, हिन्दू और मुसलमान सभी बंगालियों और प्रवासियों से समान भाव से नफ़रत करते हैं। इन्हें एनआरसी से कोई दिक़्क़त नहीं है, इनका सिर्फ़ एक ही एजेण्डा है कि पिछले 100-150 साल से असम में रह रहे, खेती और मज़दूरी कर रहे बंगालियों को (चाहे हिन्दू हों या मुस्लिम) असम से बाहर निकाल दिया जाये।

सबसे पहले इतिहास के कुछ तथ्यों को जान लिया जाये। असम में रह रहे "बाहरी" लोग कोई वहाँ जाकर क़ब्ज़ा करके बस जाने वाले उपनिवेशवादी नहीं हैं, जैसाकि असमिया जातीयतावादी (राष्ट्रवादी) उन्हें पेश करते हैं। और इन लोगों में केवल बंगाली ही नहीं हैं। इनमें बड़ी संख्या में गोरखा, बिहारी, नेपाली और संथाली लोग भी हैं। इन लोगों के असम में बसने का सिलसिला 19वीं सदी के तीसरे दशक से शुरू हुआ था जब पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी और फिर ब्रिटिश राज द्वारा बड़ी तादाद में मज़दूरों, क्लर्कों आदि को वहाँ अपना काम कराने के लिए ले जाया गया। उसी तरह जैसे बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश के गिरमिटिया मज़दूरों को जमैका, दक्षिण अफ़्रीका या फिजी जैसे देशों में ले जाया गया था। इसके बाद बंगलादेश (1971 से पहले पूर्वी पाकिस्तान) से दो बार शरणार्थियों का आना हुआ – पहले बँटवारे के बाद और फिर बंगलादेश युद्ध के बाद। इसके अलावा भी असम के चाय बाग़ानों, लकड़ी और अन्य उद्योग-व्यापार में काम करने के लिए देश के दूसरे हिस्सों से ग़रीब मेहनतकश लोग वहाँ जाते रहे और बसते भी रहे हैं। बल्कि अगर बाहर से आकर क़ब्ज़ा करने वाले लोगों की संघ-भाजपा की परिभाषा (जिसे वे मुसलमानों और ईसाइयों पर लागू करते हैं) के हिसाब से देखा जाये, तो वास्तव में "बाहरी" ताई अहोम लोग ही कहलायेंगे जो 13वीं सदी में बर्मा से आकर असम में बसे थे!

यह सच है कि अंग्रेज़ नौकरशाही के तमाम कामों को करवाने के लिए भी बंगाली पढ़ी-लिखी आबादी में से लोगों को लेकर गये थे क्योंकि असम के लोगों में उन्हें अपने काम लायक़ शिक्षित लोग बहुत कम मिलते थे। इसी वजह से असम की नौकरशाही में आज़ादी के बाद भी काफ़ी समय तक बंगाली लोग बड़ी तादाद में बने रहे और पूरे बंगाली समुदाय के विरुद्ध नफ़रत भड़काने में इस

बात का इस्तेमाल किया जाता रहा।

मगर यह भी सच्चाई है कि असम में प्रवासियों की बहुसंख्यक आबादी बेहद ग़रीब और मेहनतकश लोगों की है जो पीढ़ियों से वहाँ रह रही है। जनता के विभिन्न तबक़ों के बीच सांस्कृतिक, भाषाई अन्तरों आदि को लेकर अन्तरविरोध प्रायः होते ही हैं जिन्हें कोई जनपक्षधर सत्ता दुश्मनाना अन्तरविरोधों में बदले बिना हल करने के क़दम उठाती है। मगर असम में प्रवासी और ग़ैर-असमिया लोगों के साथ असमिया लोगों के अन्तरविरोधों को भारतीय शासक वर्गों और फ़िरकापरस्त असमिया बुर्जुआ राष्ट्रवादी ताक़तों ने अपने हित में भड़काया और उन्हें ऐसे शत्रुतापूर्ण विरोध में बदल दिया जिसके चलते लगी आग अब उनसे भी नहीं सँभल रही है।

पूँजीवाद असमान विकास के ज़रिये इस प्रकार की सामाजिक-आर्थिक स्थितियों को लगातार पैदा करता है जिसके कारण पूँजी और श्रम की आवाजाही और प्रवास एक अवश्यम्भावी परिघटना बन जाती है। पूँजीवादी राज्यसत्ता और तमाम बुर्जुआ दल राष्ट्रवाद और अस्मितावाद की ज़मीन पर खड़े होकर अपने राजनीतिक एजेण्डा को पूरा करने के लिए इसका फ़ायदा उठाते हैं। इस मसले को सर्वहारा वर्ग के नज़रिये से देखने के बजाय बुर्जुआ उपराष्ट्रवाद (sub-national chauvinism), अस्मितावाद और मूलनिवासीवाद के प्रतिक्रियावादी नारे के साथ सुर में सुर मिलाने वाले लोग किस मुँह से अपने को वामपन्थी या क्रान्तिकारी कहते हैं?

हर समस्या का कारण भाषाई आधार पर राज्यों का सही पुर्नगठन न होने को बताने के अन्धे जुनून में इन भाषाई व राष्ट्रीय अस्मितावाद के शिकार साथियों ने असमिया राष्ट्रवादियों को भी धर्मनिरपेक्ष होने का सर्टिफ़िकेट जारी करते हुए कह डाला है कि वह आन्दोलन केवल असमिया पहचान के लिए था और उसमें कोई साम्प्रदायिक मसला नहीं था! अधजल गगरी छलकाने वाले इन नौबढ़ क्रान्तिकारियों से पूछा जाना चाहिए कि भारतीय इतिहास का सबसे वीभत्स साम्प्रदायिक हत्याकाण्ड – नेल्ली जनसंहार – किन ताक़तों ने अंजाम दिया था, जब 1983 में मात्र 6 घण्टों में 14 गाँवों के 2200 से भी ज़्यादा मुसलमानों को मौत के घाट उतार दिया गया था! हर बात को भाषाई पहचान के अपने चश्मे से देखने वाले इन लोगों से पूछा जाना चाहिए कि उल्फ़ा के अन्धराष्ट्रवाद के बारे में उनके क्या विचार हैं? असमिया राष्ट्रवाद के नारे से शुरुआत करने वाले इस संगठन का बाद के दौर में जिस जुनूनी क़िस्म के अन्धराष्ट्रवाद में पतन हुआ उसने असम में रोज़ी-रोटी कमाने के लिए गये बिहार, उत्तरप्रदेश आदि के ग़रीब मज़दूरों को ही असमिया पहचान के लिए ख़तरा मानकर उनकी हत्या करना शुरू कर दिया था।

असम की आबादी के क़रीब 13 प्रतिशत आदिवासी समुदायों के प्रति असमिया राष्ट्रवादियों की नफ़रत और उनके साथ होने वाले भेदभाव पर भी इनकी नज़र नहीं जाती। कोई भी संवेदनशील व्यक्ति कुछ वर्ष पहले की उस घटना को गहरी नफ़रत के साथ याद किये बिना नहीं रह सकता जब अपने अधिकारों के लिए गुवाहाटी की सड़कों पर प्रदर्शन कर रहे आदिवासियों पर असमिया राष्ट्रवादियों द्वारा उकसाई भीड़ ने हमला किया था और एक आदिवासी युवती को निर्वस्त्र करके घुमाया था।

असम की बराक घाटी के तीन ज़िलों में बंगलाभाषियों की बहुसंख्या है। पूरे असम में असमिया को एकमात्र सरकारी भाषा बनाये जाने के सरकारी क़दम के विरुद्ध और बंगला को आधिकारिक भाषा की मान्यता दिलाने के लिए 1960-61 में व्यापक आन्दोलन हुआ जिसमें पुलिस की गोली से 11 लोग मारे गये थे। कोई भी इन्साफ़पसन्द व्यक्ति इस बात का समर्थन करेगा कि हर जगह पर आबादी के सभी समुदायों को अपनी भाषा में सभी काम-काज, शिक्षा आदि की सुविधाएँ बराबरी से मिलनी चाहिए। अगर किसी जगह पर किसी भाषाई समुदाय की बहुसंख्या है तब तो निश्चय ही उसकी भाषा को भी आधिकारिक भाषा की मान्यता मिलनी चाहिए। कोई एक ही भाषा आधिकारिक भाषा हो, यह माँग ही ग़लत है। शासक वर्ग लोगों को आपस में लड़ाये रखने के लिए अक्सर ऐसी चालें चलते रहते हैं। इसके बदले सही जनपक्षधर माँग यही हो सकती है कि उस क्षेत्र में रहने वाले सभी भाषाई समुदायों को अपनी भाषा में समस्त अधिकार मिलने चाहिए। इसकी अनदेखी करके केवल राज्य की बहुसंख्यक आबादी की भाषा की चिन्ता में दुबले हुए जाना इन भाषाई अस्मितावादियों की अपनी राजनीति का एक स्वाभाविक विस्तार है।

असम में असमिया लोगों के अल्पसंख्यक हो जाने और उनकी पहचान खो जाने को लेकर ये जिस तरह से आहें भर रहे हैं और चिन्तातुर हुए जा रहे हैं वह कुछ उसी तरह का है जैसे संघ और भाजपा भारत में हिन्दुओं के अल्पसंख्यक हो जाने और पहचान खो जाने का शोर मचाते हैं। पहली बात तो अगर असम में रह रहे सभी प्रवासियों को नागरिकता दे दी गयी तो वहाँ की डेमोग्राफ़ी में कोई बहुत बड़ा बदलाव नहीं आने वाला है क्योंकि ये लोग तो पहले से ही वहाँ रह रहे हैं। एनआरसी की बरसों चली क़वायद के बाद भी कुल 19 लाख लोगों के नाम ही रजिस्टर में दर्ज नहीं किये गये थे। इनमें भी भारी घपला था और यहाँ तक कि एक ही परिवार के कुछ सदस्यों के नाम शामिल थे तो कुछ के बाहर कर दिये गये थे। दूसरे, असम की पहचान केवल असमिया समुदाय के लोगों से ही नहीं है। वहाँ रहने वाली आदिवासी आबादी और कई पीढ़ियों से वहाँ रह रहे बंगाली और अन्य प्रवासी समुदायों की भाषा-संस्कृति भी इस पहचान का एक अभिन्न हिस्सा है।

असम में कैब के विरोध पर इन लोगों के स्टैण्ड से इनके भाषाई अस्मितावाद और राष्ट्रवादी भटकाव की कलई पूरी तरह खुल गयी है। इनकी राजनीति का समर्थन करने वालों को अब ज़रा ठहरकर सोचना चाहिए कि यह भटकाव किस ख़तरनाक दिशा में लेकर जायेगा।

● ● ●